अशोक कुम

अजातशत्रु

कुमार

अजातशत्रु

मध्यप्रदेश फिल्म विकास निगम
का प्रकाशन

अशोककुमार एक ऐसे अभिनेता हैं जो हिन्दी सिनेमा के बिल्कुल आरंभिक दौर से लेकर कोई 55-60 वर्ष बाद आज भी सृजन-सक्रिय हैं। उनकी कलायात्रा अनेक पीढ़ियों की समकालीन है और आज भारतीय सिनेमा का अत्यंत मूल्यवान हिस्सा है। वे एक ऐसे कलाकार भी हैं जिनके काम की तुलना सहज ही दुनिया के दूसरे बेहतर अभिनेताओं के साथ की जा सकती है। उन पर एकाग्र यह पुस्तक अभिनय कला के उत्कर्ष, बुनियादी सरोकारों, उत्सुकता, आकर्षणों और मानवीयता को समझने तथा प्रकट करने का एक विनम्र प्रयत्न है। हमें उम्मीद है कि पाठक हमें अपनी इस प्रयत्नसिद्धि में काफी हद तक सफल पाएँगे और उसी तरह से इसे भी अपनाएँगे जिस तरह कि हमारे **राजकपूर, शतरंज के खिलाड़ी, बिमल राय** और **गुरुदत्त** के आकलन पर केन्द्रित पुस्तक प्रयासों को उन्होंने अपनाया और मान्य किया है। हमें पाठकों के अभिमत की प्रतीक्षा रहेगी।

ओ.पी. दुबे
प्रबंध संचालक

अशोक कुमार

प्राक्कथन
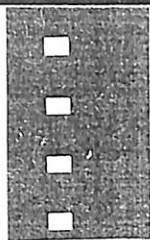
दादा मुनि अशोककुमार पर यह किताब आपके हाथों में जा रही है। शंकित हूँ... जाने कैसी लगे आपको। पर कोई चारा नहीं है।

किताब लिखना ही था। लिखने बैठा तो लिखता चला गया। परवाह नहीं की कि संतुलन बिगड़ रहा है या बात लंबी हो रही है। वैसा सोचता तो बहस का बहुत सा बारीक़ हिस्सा, सूत्र, वाक्य और गद्य-काव्य छूट जाता, क्योंकि बहुत कुछ आवश्यक और फ़ालतू कह चुकने के बाद ही छनी हुई और मन को छू लेने वाली बात आती है। बाद में, पांडुलिपि को निर्ममता से एडिट कर दी। (मेरी समझ से) कसा हुआ हिस्सा आपके सामने है।

फिर भी, कई जगह पर बात खिंचती गयी है। मगर वह अतिरंजना या अतिलेखन नहीं है। जब हम विषय की सूक्ष्मता में जाते हैं और अधिकाधिक मटेरियल पाते जाते हैं, तो उसे कहना ज़रूरी हो जाता है। इस मायने में निवेदन है कि विस्तार के बजाय कथ्य पर ग़ौर किया जाये और उस फ़ोर्स पर, जिससे बात को उठान और फैलाव देना पड़ा है। किताब में **दीदार** फिल्म की कई जगह चर्चा हुई है। पर आमंत्रित लेख से उसका जिक्र हटाना और **दीदार** फिल्म पर भाग-5 से समीक्षा को निकाल देना मुझे नागवार गुजरा। इसी तरह अशोक और दिलीप की तुलना एक से ज्यादा बार हुई है, और कहीं-कहीं परस्पर विरोधी भी है। कहीं एक को बढ़चढ़कर बतलाया गया है और कहीं दूसरे को। पर वे विरोधाभास नहीं है। बात उन एंगलों और संदर्भों की थी, जिनको प्रथम आधार मानकर सब देखा गया, कहा गया।

दादा मुनि पर कुछ शब्द। बस इतना कि वे विराट् इंसान हैं। जिस अपनेपन, बेतकल्लुफ़ी और दरियादिली से उन्होंने बातचीत की, उसे महसूस करके मैं हैरान था कि बीच में अपरिचय, अविश्वास और संकोच का एक ज़र्रा तक क्यों न रखा इस इंसान ने। कह गया—दादा मुनि आदमी हवा पानी की तरह इतना सरल और आसान हो जाये, यह तो संतत्व का लक्षण है। बतलाइये, बग़ैर किसी उच्च धार्मिक अनुभूति के आपने यह स्पेस-लाइफ निर्वैयक्तिकता कहाँ से पाई? वे हँस गये। बोले यार, मौत हर चीज़ का सार है। बस इतना जान लो तो सिंपल होने के अलावा कुछ नहीं रह जाता। यूँ यह सही है कि फ़िल्मों में यह अभिनेता दार्शनिक नहीं

है। मगर उसका सुलझा हुआ चिन्तन तमाम बुनियादी प्रश्नों का स्पर्श कर गया है, और शायद उसकी सादगी का यही राज है। एक और बात महसूस की मैंने। उस पर ज़रा कड़ाई से राय ज़ाहिर करूँगा। वह यह कि हर क्षेत्र की जीनियस के पास कहने को बहुत कुछ होता है। मगर असल बात सवाल पूछना है, जिससे वह अपने समंदर जैसे फैलाव के इस-उस कोनों को पकड़ सके और अंत में वे बातें भी बता जाएँ जिस पर उसने स्वयं भी पहले विचार नहीं किया था। दादा मुनि समंदर हैं। उन्हें भी नहीं मालूम था, वे कितना जानते हैं और कितना उन्हें याद है। लिहाज़ा जैसा मेरे प्रश्नों का उत्तर और विस्तार था, उसी बराबर का हीरा-मोती वे लुटाते गये। मैंने शुरू से ध्यान रखा था कि उनसे चालू फिल्मी प्रश्न न पूछे जायें। ऐसे प्रश्नों से तो स्वयं मुझे भी अशिष्टविरक्ति है। लिहाज़ा जब सवाल-जवाब का दौर चला तो अभिनेता को मज़ा आया और उन्होंने अपने *अवचेतन* को हल्का होते पाया। प्रीति गांगुली स्वेच्छा से उस इंटरव्यू को टेप करती रहीं। इसे मैं अपना सौभाग्य मानूँगा और इंटरव्यू कला में अपना मोड़।

मैं **निगम** का आभारी हूँ। जिसने इस किताब को लिखने के लिए मुझे प्रेरित किया। **नई दुनिया** के अभय छजलानी का मैं शुक्रगुजार हूँ, जिन्होंने मेरा हौसला बढ़ाया। यह किताब शायद तब भी लिखी नहीं जाती—क्योंकि सिनेमा पर इतनी दीवानगी दर्शाने में मझे अपनी साहित्यिक छबि के कारण संकोच हो रहा था और पूरे सालभर मैंने *प्रोजेक्ट* को पटके रखा—अगर इंदौर के फिल्म रेकार्ड संग्राहक सुमन चौरसिया, मेरे मित्र, मुझे डाँट-झिड़की देकर नहीं जगाते। उन्होंने लिखा "लिख सकते हो, तो विषय का परहेज़ क्यों। जो कुछ अपने समूचे लेखन में कहना चाहते हो, वह यहाँ भी आ रहेगा। बस, लिख जाओ।"लेकिन जिस प्रसंग ने मुझे सबसे ज्यादा अभिभूत किया, वह यह था कि अखबारों में छपी अपील और मेरे अपने निमंत्रण पर देश के परिचित और अपरिचित बुद्धिवादियों ने तो कोई सामग्री व लेख नहीं भेजा, मगर अनेक बच्चों और किशोरों ने अख़बारों की कतरनें अथवा छोटे-मोटे लेख ज़रूर भेजे। इनसे अशोक के बचपन और युवावस्था वाला हिस्सा लिखा गया। मैं इन गुमनाम अदना इंसानों को, उनके नाम सहित धन्यवाद देना चाहता हूं। (काश! ये पंक्तियां उन तक पहुँच जायें।) गायत्री जोशी, खाचरोद, बाल मेहरा, छतरपुर, गिरीश नागड़ा, खिरकिया, राजीव दुबे, "राजिम", सागर, मृत्युंजय राही, इंदौर, दिलीप एस. शर्मा पेटलावद, जलजा नायर और गंगा मुखी, बंबई, नन्दलाल, मंदसौर, एम. युनूस, सागर और पत्रकार महेश कौशिक, हरदा। एक बात और जैसा कि आप देखेंगे, आमंत्रित लेखों में कोई भी लेख किसी भी "तुर्रमखां" का नहीं है, क्योंकि इन स्थापित लेखकों साहित्यकारों, फिल्म-समीक्षकों और संपादकों ने लेख भेजना ठीक

नहीं समझा। सारे के सारे लेख एक दो को छोड़कर—मेरे साथियों, प्रोफेसरों और दादा मुनि के प्रशंसकों द्वारा लिखे गये हैं। इनमें से कुछ लेख इतने स्तरीय हैं कि स्थापितों के कान काट सकते हैं। एक लेख खिरकिया (मध्यप्रदेश) के बुजुर्ग रिटायर्ड स्कूल मास्टर आर.के. शर्मा का है, जिन्हें शिक्षक होकर सिनेमा पर लिखने में संकोच नहीं हुआ और उन्होंने अशोक द्वारा गाये हुए गीत तक उद्धृत किये। इन सबको धन्यवाद। विशेष धन्यवाद पांडुलिपी को टाइप करने वाले भाई, शेषनाथ सिंह को। और प्रोफेसर (कुमारी) चरणजीत कौर सिंह और प्रोफेसर (श्रीमती) सुहासिनी अशोकन को, जिन्होंने न सिर्फ़ मुझे दादा मुनि की फिल्मों के वीडियो कैसेट उपलब्ध कराये, बल्कि फिल्मों की हर फ्रेम पर स्वस्थ और शोधपरक बहस भी की। इतना सब होने के बाद जनसत्ता के उपसंपादक ऋषिकेश राजोरिया का सहयोग भी नहीं भुलाया जा सकता। जिन्होंने पांडुलिपि को पढ़कर अंतिम रूप दिया। अंत में मैं दादा मुनि के सेक्रेटरी, खुर्शीद भाई का आभारी हूं, जिन्होंने एक *अजनबी* के जज़्बात और काम की गंभीरता को, जाती तौर पर समझा और उसे दादा मुनि तक पहुँचाने में मदद की अग्रिम आभार प्रदर्शन समीक्षकों को, जिन्हें परिचय के अनुपात से कृतियाँ पसंद आती हैं। अब अपने अपरिचित पाठकों को यह किताब पेश है। जिनका भरोसा मैंने सदा किया है और जिनकी निष्पक्षता को बनाये रखने के लिये उनसे हमेशा *अदेखा* रहना चाहा है। प्रतिक्रिया का इंतज़ार। (जो दे, उसका भी भला। जो न दे उसका भी भला।)

उल्हासनगर (बंबई)

अजात शत्रु

खंडवा— मध्यप्रदेश का एक शहर

फिल्म अभिनेता अशोककुमार भारत के मानचित्र को सब ओर से घेर लेते हैं। पर इस *लांगशाट* से खींचकर हम कैमरे को किसी एक भौगोलिक बिन्दु पर *जीरो-इन* करें, जहां से एक अनजान बंगाली बालक राष्ट्रीय हिन्दी सिनेमा का भव्य *क्लोजअप* हो जाता है, तो वह बिन्दु भारत के नक्शे में एक छोटा सा शहर होगा। इस शहर का नाम है—खंडवा। मध्य रेलवे के भुसावल-इटारसी संभाग में स्थित है यहाँ बम्बई से अगर आप इलाहाबाद जा रहे हैं, तो बुरहानपुर के बाद और इलाहाबाद से बम्बई आ रहे हों तो इटारसी फिर हरदा और हरदा के बाद। इस शहर को दो कारणों से रेखांकित किया जाता है। सुप्रसिद्ध कवि दादा माखनलाल चतुर्वेदी यहीं रहते थे और अभिनय कला के मुकुट अशोककुमार यहीं से बम्बई गये। काव्य और अभिनय का जब भी इतिहास लिखा जाएगा, कलम को ठिठक कर पहले 'खंडवा' पर रुक जाना होगा।

रेलगाड़ी से उतरकर आप स्टेशन से बाहर आये; तो बम्बई की भाषा में जिसे पश्चिम कहते हैं, उस तरफ आपको एक सड़क मिलेगी। यह सड़क पीछे न्यू प्रकाश टाकीज़ (जिसे खंडवे वाले कभी *ठठिया* कहते थे) की ओर, आगे जसवाड़ी और रेलवे घासपुरा की ओर, और बीच में दायें हाथ पर मुड़कर घंटाघर की ओर जाती है। पहले इसे बाम्बे बाज़ार मार्ग कहा जाता था। मार्ग के इसी मोड़ से एक-दो मिनट की दूरी पर एक लाइब्रेरी पड़ती है—माणिक्य स्मारक वाचनालय। और इसी लाइब्रेरी के ठीक बगल में साधारण-सा एक मंज़िला मकान है। आज शहर में एक से एक भव्य इमारतें बन गयी हैं। पर किसी जमाने में इस मकान को *बड़े आदमी का घर* होने का दर्जा प्राप्त था। तब, जब अधिकांश आबादी ज़मीन पर रहती थी, शहर के सुप्रसिद्ध वकील कुंजीलाल गांगुली इस विशिष्ट *मढ़ीवाले* मकान में रहते थे। **कुमुदलाल** उन्हीं का बेटा था। कुमुदलाल, जिसे **अछूत कन्या** के रिलीज़ होते ही भारत के बच्चे-बच्चे ने अभिनेता **अशोककुमार** के नाम से जाना। कुमुदलाल का असली नाम अशोककुमार ही है। यह नाम उसे अपने नाना द्वारा दिया गया था, जब वह माँ के पेट में था। नाना ने लन्दन से बच्चों के खिलौनों की पार्सल बुलाई

थी। वह भागलपुर में **अशोककुमार** के नाम से आई। बाद में खंडवे में वकील साहब ने अपने लिए एक पंचिंग मशीन मंगवाई। दो सौ रुपए की पंचिंग मशीन, जो अब बीस, पच्चीस रुपए में आ जाती है। इस मशीन की पार्सल पर के. गांगुली अंकित था। यह वकील कुंजीलाल गांगुली का संक्षिप्त नाम था। जब अशोक-किशोर उस मशीन के लिए झगड़ने लगे, तो पिता ने कहा कि "क" से शुरू होने वाले नाम तुम दोनों के हैं और इस तरह यह मशीन तुम दोनों की है। 57 साल बाद अभिनेता अशोक ने इस लेखक को बतलाया कि अशोक कुमुद कैसे बन गया और फिर वही कुमुद सन् 1935 की **जीवन नैया** में वापस अशोककुमार कैसे बन गया।

खंडवा एक साधारण नगर है। धूमधाम, दंगे और ओछी सियासत से खाली। आज भी यहां साहित्य और संस्कृति का स्पर्श बाक़ी है। आज भी यहाँ साहित्यिक और सांस्कृतिक कार्यक्रम लगातार होते रहते हैं। सुप्रसिद्ध साहित्यकार रामनारायण उपाध्याय और समर्थ कवि, प्रोफेसर श्रीकान्त जोशी अभी भी यहीं रचना मुखर हैं। *धूनीवाले दादा* की शान आज भी उसी रहस्य-भाव और सम्मान के साथ देखी जाती है, जैसी बालक अशोककुमार ने 70 साल पहले अपनी माँ के साथ, देखी थी। श्रीमती गौरी गांगुली नियमित रूप से यहाँ आया करती थीं। *जीठी* माँ।

बड़ाबम पड़ावा और घर के पीछे की संस्कृत पाठशाला अशोककुमार को ज्यों की त्यों याद हैं। उन्हें अपने संस्कृत गुरु का नाम भी याद है—रामचरणदास जोशी, जिन्होंने अशोक की जन्मकुण्डली बनायी थी और कहा था—"वकील महाशय, आगे चलकर आपका यह पुत्र सुप्रसिद्ध वकील होगा।" (अशोककुमार हुए भी **गुमराह** में, **ये रास्ते हैं प्यार के** और **कानून** में मजिस्ट्रेट तक)। गुरु की वाणी इस सीमा तक सफल रही कि अशोककुमार के जीवन में, बोलचाल में, हावभाव में, झपटकर चलने, पलटने, चौंकने और शुद्ध साफ आवाज में लगातार जिरह करने में, एक जन्मजात फौज़दारी वकील का अंदाज ही रहा। चौड़ा भाल, घनी केशराशि, तीखी आँखें, संवेदनशील नास्ट्रिल और धारदार चाकूसी तेज़ साफ़ आवाज़... ये सब उन्हें

सभी फिल्मों में वकील और डिटेक्टिव (शरलाक होम्स उनका प्रिय पात्र रहा) का मानसिक गेट-अप प्रदान करते हैं। बाक़ी मेकअप बदलते रहे।

खंडवा, जैसा स्वयं अशोककुमार ने बतलाया, प्रथमतः वकीलों का शहर है। "मैंने यहाँ वकील ही ज़्यादा देखे हैं। रोज़ी-रोटी के लिए मेरा मन भी यही पेशा करना चाहता था।" वकील ही एक तरह से खंड़वे की संस्कृति और दूसरी तरफ, अदालतों की शुद्ध दुनियादारी को चलाते रहे। पेशे को कभी सियासत, और सियासत को कभी अपसंस्कृति में बदलने नहीं दिया। खंडवे के साहित्यिक और सांस्कृतिक आयोजनों की बागडोर, मूलतः उन्हीं के हाथ में रही। अशोक बताते हैं—"तब बड़े मेल-मिलाप और यारी-दोस्ती का जमाना था। घर पर कोई वकील नहीं होता था। अदालत में शाम पाँच बजे चोंगा उतारने के बाद सबको शहर और घर की परिष्कृति की चिन्ता सताती थी। मेरे घर में पूजा-पाठ का माहौल ज़बरदस्त था। मेरा जनेऊ संस्कार खंडवे में ही हुआ। मेरी *वकेब्यूलरी* (शब्दकोष) तक में बहुत से लब्ज़ आज भी उसी तरफ़ के हैं।" कहने का मतलब यह है कि जिस वातावरण और परिवेश से अशोक निकले, वह कला, साहित्य और मेलमिलाप का था। इसकी चमक अशोक-किशोर में बराबर दिखती रही। कलकत्ता के संपन्न बंगालियों की साहित्यिक-सांस्कृतिक और आध्यात्मिक सुरुचि भी—इस गांगुली में छनकर आयी। बाक़ी जन्मजात स्वभाव प्रवृत्तियाँ और प्रतिभा।

खंडवे में बंगाली उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध से ही आ गए थे। बंगाल की क्रूर जमींदारी प्रथा और बाद के अकाल ने, आबादी के बहुत बड़े हिस्से को, प्रदेश से विस्थापित करके अन्न-पानी की तलाश में, इधर-उधर पंख फैलाने के लिए मजबूर कर दिया था। अधिकांश बंगाली रायपुर, बिलासपुर, जबलपुर और नागपुर में जा बसे। उन दिनों नागपुर में हाईकोर्ट होने से एक तीखा "कंसेंट्रेशन" नागपुर भी रहा। ये सुशिक्षित और बुद्धिमान बंगाली शिक्षा और वकालत के पेशे में अधिक आये, क्योंकि व्यापार और मज़दूरी की सीमांतों के बीच यह पेशा, महज़ दिमाग़ की सहज और आसान पूँजी से, शरीर को अधिक खटाये बिना, ज़िस्म को खड़ा रखने का सरंजाम कर देता था। इसका सीधा फ़ायदा अशोककुमार को यह मिला कि उस दौर में, जबकि भारत में अशोककुमार के अधिकांश हम उम्र चौथी, पाँचवी कक्षा भी लाँघ नहीं पाते थे, उसे घर में ही उच्च शिक्षा-दीक्षा का माहौल उपलब्ध हो गया और उस दौर में वे बी.एस.सी. कर गये। इन सबका प्रभाव शख़्सियत और *लुक* पर भी पड़ा। अशोककुमार जब से फिल्मों में आये, वे एक सुशिक्षित, जहीन, शालीन और भव्य इंसान ही अधिक लगते रहे। **दीदार** में उनका रुमाल निकालने का अंदाज़, मुँह पोछने का अंदाज़, चाय में शक्कर मिलाने का अंदाज़ और आपरेशन रूम में आपरेशन करने का अंदाज़—अभिनय नहीं था। वह आभिजात्य और सांभ्रांत्य

से छनकर निकला हुआ सहज अंग संचालन और स्वाभाविक आत्मविश्वास अधिक था। एक वाक्य में कहें तो यह कि परवरिश और परिवेश ने भविष्य के भव्य और तेजस्वी अभिनेता को खंडवे में गढ़ दिया था, बीज बंबई में फूटा।

बचपन

अशोककुमार का जन्म 13 अक्तूबर 1911 को बिहार प्रान्त के भागलपुर शहर में हुआ था। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं को दिए गये साक्षात्कारों में दादा-मुनि (बहुत कुछ मज़ाक की मुद्रा में) स्वयं बतलाते हैं—"मेरी ज़िंदगी में किसी भी चीज़ का पहला दिन बहुत गड़बड़ी का दिन रहा है। ज्योतिष के अनुसार जन्मदिन 13 तारीख़ और शुक्रवार है, जो बहुत ही अशुभ है। उसी दिन यीशु को सूली पर चढ़ाया गया था।"----"जिस दिन मैं पैदा हुआ उसी दिन मेरी दादी सीढ़ी से गिर पड़ीं और उनकी मृत्यु हो गयी। मेरी शिक्षा की शुरुआत भी कुछ इसी तरह हुई। इस दिन क्योंकि बच्चा पहली बार पट्टी और पेम (बर्तना) पकड़ता है, इसलिए इस पर्व को भारतीय माता-पिता की आर्य परंपरा *पाटी-पूजा* कहती है। मेरी पाटी-पूजा का आयोजन बड़ी धूमधाम से हुआ था। इस दिन हमारे शहर की मशहूर "डबलफाटक" स्कूल (क्योंकि उसके कम्पाउण्ड में दो फाटक थे) के हेडमास्टर मुझे कलम पकड़ाने की रस्म पूरी करने के लिए आने वाले थे। सारी तैयारी पूरी हो चुकी थी। इस आयोजन में खंडवा के सभी प्रतिष्ठित व्यक्ति आये थे। बस, मास्टर साहब का इन्तज़ार था। पर ऐन वक्त पर पता चला कि हेडमास्टर साहब आते-आते सीढ़ी से गिर पड़े।" यज्ञोपवीत संस्कार के बारे में बताते हैं—"जनेऊ के दिन सभी मेहमान आ गये। मुहूर्त आ गया पर पंडित नदारद। उनको बुलाने के लिए एक आदमी भेजा गया। पता चला पंडितजी घर पधारने के बजाय परलोक सिधार गये। उनका हार्ट फेल हो गया था।"

" एक्टिंग की शुरुआत भी गड़बड़ी से हुई। सन् 1935 की बात है। बांबे टाकीज़ के हिमाशुराय एक फिल्म बना रहे थे। नाम था—**जीवन-नैया**। मुझे सपने में गुमान नहीं था कि मैं इस फिल्म का हीरो बन जाऊँगा। बनता भी कैसे? इसके पूर्व कोई आसार नहीं थे। मैं तो हिमांशु राय के निर्देशन में पटकथा लेखन की ट्रेनिंग ले रहा था। ट्रेनिंग क्या, बस ऐसा था कि अंग्रेज़ी स्क्रिप्ट का हिन्दी में अनुवाद करता था और वे उसे देखने का वादा करते, मगर देखते अक्सर नहीं। हुआ यह कि उस दिन उनका हीरो कहीं चला गया। बहुत ढूँढ़ने पर भी नहीं मिला। हार थककर उन्होंने उड़ती नज़र से मुझे देखा और न जाने मुझमें उन्हें क्या भा गया। बोले—चलो। एक्टिंग करो। मैं घबरा गया। बोला—"क्या कह रहे हैं आप? जानते हैं इसका अंजाम क्या होगा? हमारे परिवार में गड़बड़ी मच जायेगी। हम लोग ब्राह्मण हैं।"

हिमांशुराय ने एक नहीं सुनी। बोले, बस यह फिल्म कर डालो। मैं किसी तरह तैयार हो गया। हिमांशुराय ने मुझे पहला शॉट समझाया। उसके मुताबिक मुझे हीरोइन को विलेन के पंजे से छुड़ाना था और इसके लिए मुझे शॉट में आना था। हिमांशुराय ने समझाया कि पहले वे साउण्ड बोलेंगे, फिर स्टार्ट से कैमरे की आवाज़ आयेगी, और उसी के साथ ही मुझे दस तक की गिनती मन ही मन गिनते हुए, सीधे कैमरे के फील्ड में आ जाना है। मैं खिड़की के पीछे छिपकर बैठ गया हिमांशुराय ने साउण्ड कहा और मैं दौड़कर हीरोइन और विलेन के बीच कूद गया। हीरोइन एक तरफ गिरी और विलेन दूसरी तरफ़। स्क्रिप्ट में ऐसा कुछ नहीं था, पर विलेन लगड़ा हो गया। उसे ठीक करने के लिए डॉक्टर बुलाना पड़ा।'' यह सब बतलाते हुए दादा मुनि स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि कैमरे के सामने घबरा जाना आम बात है। अपने इसी अनुभव के कारण उन्होंने बाद में किसी भी नये अभिनेता को अपने साथ बार-बार शॉट बिगाड़ने पर भला-बुरा नहीं कहा, बल्कि उसकी
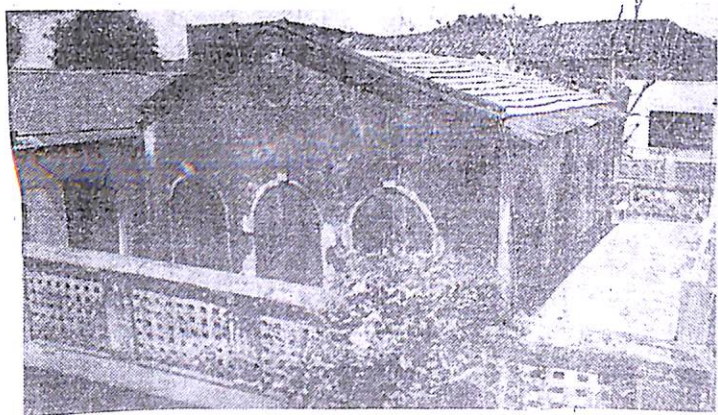
हौसला अफ़जाई की। वे अपने बचपन पर टिपणी करते हैं ''हम रहने वाले खंडवा के हैं। लेकिन मेरा जन्म अपने ननिहाल भागलपुर में हुआ। पिताजी की शादी इतनी दूर कैसे हुई, इसका कारण यह है कि वह देखने में पहलवान की तरह थे। मेरे नाना को ऐसे ही जमाई की ज़रुरत थी। उनके पास अपार संपत्ति थी और वे अक़सर बीमार रहा करते थे। उन्होंने सोचा होगा कि जायदाद और बिटिया की रक्षा के लिए समर्थ लड़का चाहिये। ऐसा लड़का चुनने से उन्हें अपनी बीमारी और कमजोर सेहत के खिलाफ कुछ सुकून ही मिला होगा। हाँ, वे यह पता लगाना नहीं भूले कि लड़का ब्राह्मण है या नहीं। जब उन्हें ख़ातिरी हो गयी कि पिताजी ब्राह्मण ही हैं, उन्होंने शादी कर दी।'' एक निजी बातचीत में इस लेखक को बतलाया, ''मुझे अपने पिता से बहुत प्यार था।'' जीवनभर मैं उन्हें अदब से देखता

रहा। शायद इसीलिये और अधिक कि वे शुरू में गरीब थे, और मां पैसे वाली थीं। वे अपनी मेहनत के दम पर पढ़ लिखकर वकील हुए थे। यह बताते-बताते दादा मुनि की आंखे पनिया आयी थीं। बड़े गांगुली साहब यानी दादा मुनि के पिताजी को जिन्होंने देखा है, वे ताईद करेंगे कि बड़े गांगुली साहब सीधे-सादे और भोले-भाले आदमी थे। उन्हें देखकर ताज्जुब होता था कि वे वकालत कैसे करते होंगे। घंमड उन्हें छू तक नहीं गया था। वे यह एहसास लेकर खंडवे की सड़कों पर नहीं घूमते थे, कि वे जगज़ाहिर अशोक-किशोर के पिता हैं। देखने में ऐन अशोककुमार की तरह वे धोती, कुर्ता पहने, छड़ी हाथ में लिये, कचहरी की तरफ़ घूमने जाया करते थे। पहलवान टाइप के तो वे तब भी लगते, पर अतीत की मेहनत और उससे उत्पन्न सादगी का रंग उनकी शख़्शियत में साफ़ झलकता था। कई बार यह भी होता कि त्रियुग या आनंद में किशोर की फिल्म लगती, और वे टिकट लेकर उसे देखने जाते। पर कोई बात खटकती, तो बीच फिल्म से निकलकर आ जाते थे। **बाप रे बाप** के वक़्त उन्होंने ऐसा ही किया था, और इस घटना का चश्मदीद गवाह यह लेखक है। खैर!

मगर कैसा था यह भव्य, गरिमामय अशोककुमार बचपन में? शरारती? घुन्ना, बाप से डरा हुआ? माँ के लाड़ में बिगड़ा हुआ? नहीं नहीं ऐसा कुछ नहीं। बड़ी भावुकता और वियोग के साथ वे लड़कपन का चित्रण करते हुए कहते हैं—"मेरी उम्र ज़रूर ज़्यादा हो गयी है, लेकिन बचपन ने उम्र के किसी दौर में मेरा साथ नहीं छोड़ा है। अहा! क्या बेफिक्री के दिन थे। याद करने बैठता हूँ, तो दिल खिल उठता है। आज भी मैं वही बच्चा हूँ जो कभी खंडवा के गली कूचों में धमा-चौकड़ी मचाता फिरता था। शरारत और छेड़छाड़ की आदत तो आज भी मेरी रग-रग में बसी हुई है। सच पूछो तो आज भी बड़ों के साथ गंभीर बातें करने के बजाय बच्चों के साथ खेलना और ऊधम मचाना मुझे अधिक पसंद है। बचपन में मिजाज़ बिजली जैसा था। जाने कब, कहाँ टूट जाये। यूँ अपने मुँह मियाँ मिठ्ठू बनना ठीक नहीं है। पर सच मानो सारे खंडवा में इतना ऊधमी बच्चा नहीं रहा होगा।" दादा मुनि यह इन्टरव्यू एक बच्चे को दे रहे थे और इस इन्टरव्यू को एक साधारण सी गुमनाम पत्रिका ने छापा था। उस बच्चे को वे बताते हैं, "मैट्रिक (दसवीं) तक की पढ़ाई मैंने खंडवा में की। रेलवे के उस पार जसवाड़ी की तरफ किन्हीं मेहता जी का स्कूल था, उसमें फेल होने का अवसर कभी नहीं आया। आता भी कैसे। पास होने के लिए मैं परीक्षा में नक़ल का सहारा जो लेता था। इस विषय में किसी ख़ास विषय की क़ैद नहीं थी। मैं सभी विषयों के साथ न्याय करता था। यानि सभी पेपरों में नक़ल करता था।" नक़ल के गुर क्या होने चाहिए, इस महत्त्वपूर्ण, विषय पर विश्व-स्तर का यह अभिनेता, बालक बनकर, बच्चे को बतलाता

है, "कभी हथेलियों पर लिखकर ले गया, कभी आस्तीन के अन्दर और कभी बाजुओं पर। जूतों, मोजों के अंदर भी काग़ज़ के पुर्जे छिपाकर ले गया।"

मुमकिन है कि यही सही हो। या बालक-इन्टरव्यूकार का मनोरंजन करने के लिए दादा मुनि अतिरंजना में बातें कर रहे हों। मगर सचाई यह है कि जीवन में खंडवे के इस छोरे और देश के महान् अभिनेता का रवैया यही रहा कि डोन्ट बी टू सीरियस। टेक एव्हरी थिंग लाइटली। फिर उन्होंने अपने सीनों के लिए कड़ी मेहनत की हो, या घंटों रोल की आत्मा का रोम-रोम छानना चाहा हो, वे अपनी अ‍ॅप्रोच में बेतकल्लुफ़ ही रहे। न किसी ईश्वर की चिन्ता, न किसी शैतान का डर, और न सर पर किसी पहाड़ के गिरने का खौफ। बस, जैसी जिन्दगी है, उसी से काम चला लिये जायें। आप अशोक नामक व्यक्ति और अशोक नामक अभिनेता की अन्दरूनी फितरत पर ग़ौर कीजिए। वह किसी अर्द्धनास्तिक अंग्रेज़ की तरह आशावादी बुद्धिवादी है, जो बड़ी प्रफुल्लता और ताजगी के साथ यह विश्वास करता हुआ 'क्रायसिसों' को संभालता है कि ईश्वर न सही आदमी का आत्मविश्वास, सधी हुई लापरवाही, और बाहर से असावधान दीखती उसकी कॉस्मिक इंटेलीजेंस—ज़मीन पर पहला और आख़िरी भगवान—ही उसका बुनियादी आधार है। अशोक का यह खिलंदड़ापन और उसकी यह लापरवाह गंभीरता उसकी भूमिकाओं में, जीवन में, बार-बार उभरकर आती रही हैं। इंटेलीजेंस इतनी ही लापरवाह होती है।

"खेलकूद का भी बहुत शौक था मुझे। वह भी बस हॉकी और कोई खेल नहीं। या फिर घूमने फिरने और सैर-सपाटे में वक़्त गुज़रता था। शरारतें, नकल करना और फालतू घूमना बड़ों की राय में बुराईयाँ हैं। मगर मुझे खुद ही नेक बच्चा बनने का कोई अरमान नहीं था। यहाँ तक कि कभी कभार छोटी-मोटी चोरियाँ तक कर डाली। एक वाकया सुनो। उन दिनों खंडवा छोटा सा शहर था। जनसंख्या पच्चीस हज़ार से अधिक न होगी। यहाँ, हर बरस सत्यनारायण का मेला लगता था। हमारे घर की दायीं ओर कुछ ही दूरी पर सत्यनारायणजी का मंदिर था। एक बार मेले में इस मंदिर के सामने एक खिलौने वाला बैठा था। उसके सामने ढेर सारे तरह-तरह के खिलौने सजे हुए थे। मैं उन दिनों लगभग ग्यारह बरस का था और तीसरी क्लास में पढ़ता था। मेरी बहन जो पाँच बरस की थी, मेरे साथ मेले की सैर कर रही थी। उन खूबसूरत खिलौनों को देखकर हम दोनों का मन ललचा गया। आँखों-आँखों में इशारे हुए फिर क्या था। एक खिलौना मैंने झपटा और दूसरा बहन ने। और हम लगे भागने। हमारे पीछे जोर से शोर हुआ—पकड़ो, पकड़ो, चोर-चोर। पर हम कहाँ हाथ आते। सीधे घर में जा घुसे।" यह है दादा मुनि का प्रवाहमय वर्णन। भाषा साफ़ और सरल। बच्चे-बूढ़ों के लिए समान अनुकूल। बहुत

कम लोगों को मालूम है कि अपने शुरुआती दौर में वे अभिनेता-अभिनेत्रियों जो उर्दू सिखाते थे। अपनी कई फिल्मों के धाराप्रवाह कोर्ट सीन उन्होंने लिखें हैं। दादा मुनि की कुंडली ने कहा था कि आगे चलकर वे ख्यातिनाम वकील बनेंगे। एक मायने में कुंडली ने सही बोला था, क्योंकि जन्मजात वकील के पास जिस तरह प्रवाहमय भाषा, तेज़ क्रॉस एक्ज़ामिनेशन की प्रतिभा, शब्दों पर ज़ोर देकर अपना मंतव्य गहराने की क्षमता और बाज की सी झपट चाहिये, वही बग़ैर वकील बने दादा मुनि में वकील की तरह विद्यमान हैं और अपने कोर्टसीनों में वे बखूबी जन्मजात वकील नज़र आते रहे हैं। आगे वे बतलाते हैं—"फिर दो घंटे बाद पिताजी आये। उन्हें बाहर ही लोगों ने पूत की करतूत के बारे में बता दिया था। इसके बाद बहन तो डांटडपट खाकर रह गयी। पर मेरी जमकर पिटाई हुई। ऐसी कि दिन में तारे नज़र आने लगे। फिर पिताजी खुद जाकर खिलौने वाले को पैसे दे आये।"

"बचपन में एक बार और पिटा था। इतनी बुरी तरह कि स्वयं पिता बनने पर बच्चों को डाँटने-मारने से बचता रहा। हुआ यह कि मैंने अनजाने अपने पिता के एक वकील मित्र का अपमान कर दिया। पिताजी के मित्र पता नहीं कब से और कैसे *टुनिया* पुकारे जाने से चिढ़ते थे। बस फिर क्या था। जैसे ही मुझे और मेरे दोस्तों को यह राज मालूम हुआ, हमने ठान लिया कि उन्हें चिढ़ाकर मज़ा लेंगे। एक दिन वे वकीलों का लिबास पहने *तीन पुलिया* की तरफ़ चले जा रहे थे। मैं अपने हमजोलियों के साथ खेलकर आ रहा था। जैसे ही हमारी उन पर नज़र पड़ी, मैंने उन्हें तीन बार टुनिया कहकर पुकारा। मेरे साथी भी चिल्लाने लगे—टुनिया-टुनिया-टुनिया। वकील साहब खिसियाकर मेरी तरफ लपके। हम उड़न छू हो गये। मैं समझा बात आई गई हो गयी पर वकील साहब ने घर जाकर मेरी शिकायत जड़ दी। इसके बाद पिताजी ने चार चोट की वह मार दी कि आज तक नहीं भूल पाया।" आगे दादा मुनि का सेंस ऑफ ह्यूमर। "मगर मैं सुधरा तब भी नहीं"

अपने किस्म के इस अकेले इन्टरव्यू में—जो, जैसा हमने पहले बताया, एक बच्चे को दिया गया था—दादा मुनि ने बड़ी संवेदनशीलता और नास्टेलजिया के साथ अपने बचपन और गृहनगर को याद किया है। डबल फाटक और मेहता स्कूल की उन्हें पूरी याद है। धूनीवाले की थान को पचास साल बाद भी बड़ी स्पष्टता के साथ याद करते हैं। घर के पीछे की संस्कृत पाठशाला उन्हें बाकायदा याद है। डबलफाटक स्कूल का नाम माखनलाल चतुर्वेदी पाठशाला कब पड़ा और कब मोटर स्टैण्ड बनने के बाद पाठशाला पीछे चली गयी, इसकी जानकारी उन्हें है। नागचून के तालाब के बारे में वे स्वयं इस लेखक को बतला रहे थे और जसवाड़ी के पास कभी विमानतल होने की सूचना दे रहे थे। अपने एक संस्मरण में उन्होंने

अपने बचपन के मित्र सुप्रसिद्ध कवि भवानी मिश्र (अब दिवंगत) को बड़ी शिदद्त से याद किया है। एक प्रसंग और भी मार्मिक है—''खंडवा क्या छूटा, बचपन के संगी-साथियों का साथ छूट गया और उनमें से अधिकतर तो अब इस दुनिया से भी सिधार चुके होंगे। स्वयं मेरी उम्र 80 बरस हो गई है। चल-चलाव के दिन हैं। खाने-पीने में परहेज़ का चलन अपना रखा है। इसीलिये जीये जा रहा हूँ। वर्ना कब का मर खप चुका होता। बचपन के साथियों का कुछ पता नहीं कि किस हाल में होंगे। हाँ, एक बात याद आ रही है। कुछ अर्सा पहिले फिल्म **अनजाने** रास्ते की शूटिंग करने आरे मिल्क कॉलोनी, गोरेगांव (बंबई) जाना हुआ था। वहाँ इत्तफाक से बचपन के एक मित्र से भेंट हो गयी। वह था सुखीलाल, जो सन् 1920 में मेरे साथ दूसरी कक्षा में पढ़ता था। बिल्कुल बूढ़ा हो रहा था बड़ी कठिनाई से मैं उसे पहचान सका। उसी ने मुझे पहचान लिया और बीतें दिनों की याद दिलाई। देर तक हम बचपन की यादों में खोये रहे। अब दोबारा उससे उस सूरत में मिलना हो सकेगा, जब शूटिंग पर गोरेगांव जाना हो। इसके लिये भी आवश्यक शर्त है कि हम दोनों जीवित रहें।'', यह थे दादा मुनि, जो बड़ी कातरता से अपने विगत को याद कर रहे थे। वह दादा मुनि जो सन् 1954 में खंडवा आये थे तो उन्नत भाल, गोरा रंग, आँखों पर धूप का चश्मा, और रेलवे ब्रिज पर तेज़ चलते हुए—ऐसा सन्नाटा कि चीख़ने-चिल्लाने के बजाय भीड़ दम साधकर खड़ी रह गयी और हम भी नमस्ते करना भूल गये।

इंदौर शहर से एक बालक मुत्युंजय राही, लिखता है—''मेरे नानाजी खंडवा में अँगूठियों का धंधा करते थे। बचपन में वे और अशोकजी काफ़ी साथ रहे। फिर सन् 193- में अशोकजी बंबई चले गये। एक बात नानाजी ने अशोकजी के बारे में बतलाई थी। उसका जिक्र करना चाहूँगा—तब **अछूत-कन्या** का प्रदर्शन हो चुका था। नानाजी अपने काम के सिलसिले में बम्बई गये हुए थे वहाँ अशोकजी से मिले और उनसे कहा—''यार, कहाँ तू ये नौटंकी के चक्कर में पड़ गया। मुझे तो ये अच्छा नहीं लगता।'' मित्र ने ऐसा कहा, तो वे पशोपेश में पड़ गये। फिर बोले ''देख यार, जब कुछ समझ न आये तो आदमी को मान लेना चाहिए कि उसके लिये वही जगह ठीक है, जहां वह है और वहीं उसे रहना चाहिए। देख लेना, एक दिन मैं यहीं से कुछ करके दिखाऊँगा।'' मित्र को कहा गया यह छोटा सा जुमला साफ़ कर देता है कि वे दिन तनाव के थे और सामने अज्ञात भविष्य का अँधेरा था। मगर इसी के साथ यह भी मानना पड़ता है कि मनुष्य जैसे माध्यम मात्र है। उसके भीतर बैठी संभावनाएँ बेहतर जान रही होती हैं कि यंत्र को किधर ले जाना है और कैसे इस्तेमाल करना है। लिहाज़ा, बाहरी अनिश्चय की पृष्ठभूमि से आत्मविश्वास की जो भीतरी आवाज़ फूट पड़ती है, वहीं शंकित आदमी का साहस भी बन जाती है।

बड़े गांगुली साहब, रविशंकर शुक्ल को साथ लेकर, अशोक को लौटाने के लिए पहुँचे थे। पर वे ख़ाली हाथ खंडवा लौटे। इतिहास *बॉम्बे टाकीज़* में ठहर गया।

अंत में उनके जीवन की एक और घटना और फिर इस परिच्छेद की समाप्ति।

'फिल्म और कैमरे की दुनिया से कभी मेरा फेफड़े और साँस की तरह संबंध हो जायेगा, यह मैंने कभी सोचा भी नहीं था। हाँ, बचपन मे ही मुझे फोटोग्राफी का शौक था। स्कूल जाते वक़्त रोज़ एक आना जेब खर्च मिला करता था। बहुत हिसाब लगाया लेकिन पैसे जमा करके कैमरा खरीदना मुझे मुश्किल दिखाई दिया। उस ज़माने में कैमरा चौदह रुपये में मिलता था। इतनी बड़ी रकम घरवालों से एक साथ वसूल करना संभव न था। फिर मैंने बूँद-बूँद करके सागर भरने की ठानी। मौक़ा पाकर कभी पिताजी की जेब से, कभी आलमारी से, रुपया आठ आना जो हाथ लगता, पार करने लगा। जब चौदह रुपये हो गये तो मैंने ईमानदारी के साथ उचक्कापन छोड़ दिया और कैमरा खरीद लिया। बाद में पिताजी ने घर में कैमरा देखा, तो पूछा। मैंने यह कहकर उन्हें झाँसा देना चाहा कि अपना जेब खर्च बचाकर उसे खरीदा है पर पिताजी हँस दिये। बोलने लगे—"हाँ क्यों नहीं। वही ढूँढ़ूं कि मेरी जेब से कभी रुपया, कभी अठन्नी, कहाँ गायब हो जाते हैं।" आगे अशोक जी कहते हैं—"पहली बार मुझे पिताजी ने नहीं पीटा।"

यह था अभिनेता का बचपन। उसके कुछ पहलू। मगर हम न भूलें कि हम एक जाने जा चुके तथ्य में से, जो कभी अज्ञात था, विचार करने बैठे हैं और बड़ा आसानी से किसी फार्मूला, किसी सूत्र या किसी थिसिस को खोज निकालने के भ्रम में पड़ सकते हैं। फिर भी ज्ञात वर्तमान से कभी के अनजाने अतीत में लौटना कम से कम यह आश्वस्त लाभ तो हमें देता ही है कि हम उसी वर्तमान को अब बेहतर समझ सकते हैं और कलाकार विशेष के मेकेनिज़्म को या उसे गढ़ने वाले प्रारंभिक तत्वों को, जिस हद तक वे देश और काल के दायरे में *सायकिक मेटेरियल* को गढ़ते हैं, प्रभावित करते हैं, जानने का स्वस्थ आनंद ले सकते हैं। लिहाज़ा बचपन के ज्ञात पहलुओं से जिस अशोककुमार की हमें टोह मिलती है, वह माना सत्तर साल पहले अभिनय की संभावना रखता प्रतीत नहीं होता था, मगर अभिनय के लायक कुछ विशेषताएँ उसमें ज़रूर थीं। वे थीं, उसकी जीवंतता, संवेदनशीलता, जिज्ञासा-भाव, खुलापन और निर्भयता। आख़िरी गुण उसके बहुत काम आया। अशोक में हम आख़िरी तक कोई कॉम्पलेक्स या झिझक नहीं देखते। यह ठहराव और लापरवाही, रोल को समझने के लिए आवश्यक, एकाग्रता और आत्मविश्वास उसे देते गये। यानी, सुरक्षित बचपन परदे पर एक आशावादी नायक को लेकर आया। यही अभिनेता अशोककुमार का केन्द्रीय रूप है।

"मामा, ऐसा क्यों करते हैं ये लोग?"

अशोक का बचपन और किशोरावस्था खंडवा और भागलपुर के बीच पेंग लेते रहे। वे अपने नाना के लाड़ले थे। संपन्न ननिहाल और कलकत्ता के बंगालियों का लगातार संपर्क प्रसंग कुछ ऐसे बनते रहे कि वे उस माहौल में सांस लेते रहे, जहाँ ड्रामा था। उस पर लंबी बहसें थीं। देर रात तक चलने वाली समीक्षाएँ थीं, और जहाँ अनजाने अभिनय-कला के बारे में अपने आपको विचार करते पाया ज सकता था। दादा मुनि बताते हैं—"मैंने सपने में भी नहीं सोचा था कि मैं एक्ट बनूँगा। अभिनय-वभिनय में मेरी ज़रा भी दिलचस्पी नहीं थी। हाँ, एक बार पिताज मुझे स्कूल में स्टेज पर ले गये थे। लेकिन एक्टिंग करते नहीं बनी। छोटा-सा रो था। मुझे एक स्टेशन पर बैठना था और हीरो-हीरोइन के आने पर "चलो भा गाड़ी का वक़्त हो गया, कह कर स्टेज से चले जाना था। इससे उनको बात कर का मौक़ा मिलता मगर मैं अपनी जगह से हिला ही नहीं। पेपर से मुँह ढाँकव बैठा रहा। स्टेज़ के पीछे से लोग चिल्लाने लगे—"अरे उठो। भीतर आ। ओफ्फोह वग़ैरह-वग़ैरह-----।" लेकिन बाद में, यह सोचना मुझे अच्छा लगा कि मैंने वै क्यों किया? माँ मेरी बहुत पढ़ी लिखी थीं। उनको पढ़ाने के लिए लन्दन से गव बुलाई गयी थी। बचपन में मुझे शेक्सपियर, थामस हार्डी, डिकेंस और कानन डाय जैसे महान् लेखकों की रचनाएँ सुनाया करती थीं। शरलाक्स होम्स के कारनामे बहुत पसन्द आते थे। इन कहानियों का मुझ पर गहरा असर पड़ा। भारतीय पाश्चात्य साहित्य को पढ़ने की जहाँ इच्छा बलवती हुई, वहीं उन्हें पढ़कर पात्रों मनोविज्ञान पर भी सोचने-समझने की प्रवृत्ति जागी। बाद में यह सब काम आ विदेशी जासूसी साहित्य का प्रभाव मेरे बालपन पर गहरा रहा। कई वर्षों बाद मैं कई फिल्में कर चुका था, एक दिन कोनाल्ड डायर की कहानियाँ पढ़ रहा जिस भी कहानी को पढ़ता, पहले ही अंदाज लगा लेता कि अंत में क्या हो ऐसा कई कहानियों के साथ हुआ। मैं हैरान था कि बात क्या है। फिर याद कि बचपन में ये तमाम कथाएँ माँ मुझे सुना चुकी थीं। दादी से मैं राम महाभारत और प्रेमसागर की कहानियाँ सुन चुका था। यह सब बड़ा अच्छा ल था। पर तब भी बात कभी मन में नहीं आयी थी कि इस या उस पात्र के को मुझे स्टेज या फिल्म में करना हो, तो मैं कैसे करूँगा या किस नज़रि

करूँगा। हाँ, यह ज़रूर लगता था कि उनका अभिनय करने वाले अभिनेताओं में कहीं बुनियादी खोट है। अपने शुरुआती दौर में कहानी सुनने का शौक मुझे ज्यादा था। नाना ने तो कहानी सुनाने के लिए मामा के एक गरीब दोस्त को रख छोड़ा था। पर मैं उसे उल्टे, इधर-उधर से गढ़कर कहानियाँ सुनाया करता था सो भी कैसी। दाल या संदेश कैसे बनते हैं, खिचड़ी कैसी बनती है वगैरह-वगैरह। वह जाकर नानाजी से शिकायत करने लगा। नानाजी ने कहा, कोई बात नहीं। तुम इससे कहानी ही सुना करो—इस घटना के बीस साल बाद मैं "न्यू थियेटर" में काम करने कलकत्ता गया। वहाँ एक दिन शरत बाबू आये। मैंने उनको नमस्कार किया। वे बोले--मुझे पहचाना? मैंने कहा— आपको कौन नहीं जानता? वे बोले---नहीं, तुम नहीं जानते हो। भले आदमी, तुम मुझे कहानियाँ गढ़कर सुनाया करते थे। याद करो, भागलपुर में तुम्हारे साथ कौन छोकरा था बनर्जी साहब के यहां? मैं हैरान रह गया, मैं शरत बाबू को कहानियाँ सुना गया था।"

मगर नाटक ड्रामे से संपर्क की बात रही जा रही है। "जब मैं 10-11 साल का था और पूजा में परिवार भागलपुर आ जाता, तो उन दिनों पिताजी हमें कलकत्ता ले जाया करते। वहाँ हम उस समय के धुरंधर नाटककार शिशिर भादुड़ी और दूसरों के नाटक देखते थे। एक बार मैं मामा के साथ कोई नाटक देखने गया। नाटक में जाने क्यों मेरा मन नहीं लग रहा था। कोई बात नाटक में मिस हो रही थी। बहुत जल्दी मैंने समझ लिया कि हज़ारों लोगों को जँचने वाले ये स्टेज शो मुझे पसंद क्यों नहीं आते। एक दिन घर लौटते हुए मामा से कुछ इस तरह बातचीत हुई।

मैं : एक बात बतलाइये।

मामा : हाँ, बोलो।

मैं : स्टेज पर इन अभिनेता-अभिनेत्रियों को क्या बीमारी हो जाती है कि ये अलग लहज़े में बोलने लगते हैं?

मामा : क्या मतलब?

मैं : हम जैसे सुबह शाम बोलते हैं, छोटी-मोटी बातें बोलते हैं। इधर आ। घर चल। किताब उठा। अरे तुम कब आये? लो, पाँच बज गये, वगैरह-वगैरह। ऐसा ये लोग क्यों नहीं बोलते?

मामा : अरे भाई, नाटक की भाषा ज़रा अलग होती है।

मैं : अलग क्यों होनी चाहिए। मेरे समझ में तो यही आता है कि जैसा हम चलते, फिरते, उठते, बैठते, किसी से बात करते, या पान की दूकान पर बोलते हैं, वैसा ही बोलना चाहिए।

मामा : नहीं, ड्रामा तो ड्रामा है।

मैं : और यही ड्रामाईपन मुझे खटकता है।

—मामा सहमत नहीं हुए! वे नानाजी से कहने लगे—कुमुद, ड्रामा कम देखता है। बहस ज्यादा करता है। जरूरत से ज्यादा। मैं तो परेशान हो गया हूं। नाना

हंसकर रह जाते। पर मामा मुझे समझा नहीं सके और मैंने बचपन में ही समझ लिया कि नाटक में मंच पर जो भाषा बोली जाती है, वह कृत्रिम और किताबी है। उसका लहज़ा भी झूठा और बनावटी है। हम जैसा जीवन में बोलते हैं, वैसा ही ड्रामें में बोलना चाहिए। मेरे लिए पहला गुरुमंत्र यही बना—

''मामा, ऐसा क्यों करते हैं ये लोग?''

ये अशोक के बयान हैं। बचपन के कुमुद के। तब वह यह भी नहीं जानता था कि किसी कोने से उसे एक्टर बनना है और न वह कुछ करके दिखा सकता था। पर भीतर सोये हुए कल के महान् एक्टर ने, अनजाने, अपनी दिशा तय कर ली थी। वह थी सरल, स्वाभाविक अभिनय की साधारण दिखने वाली असाधारण दिशा। इसी में सब कुछ होना था। इसी में इंसान की सबसे बड़ी ख़ुशी और बड़े-बड़े गम घट जाते हैं। बड़े से बड़ा तनाव लोग यूँ ही सड़क चलते, रोज़मर्रा की भाषा में झेल जाते हैं या ज़ाहिर कर देते हैं। आज के संदर्भ में यह कोई नयी बात नहीं है। पर उस दौर में जब पारसी थियेटरों और मुसलमानी ड्रामों के कारण सारे भारत के मंच पर कृत्रिम मुग़लिया अंदाज़ की बड़बोली छाप थी, सहज सरल शैली में बोलना आइंस्टीन की रिलेटिविटी थ्योरी खोजने जैसा था। बड़ा से बड़ा निर्देशक और बड़ा से बड़ा अभिनेता कल्पना नहीं कर सकता था कि इफेक्ट और अपील इतने पास हैं। सहजता के प्रति अशोक के लगाव का आत्मीय कारण और भी था वह यह कि ''मेरी माँ बहुत नेचुरल थी और उनके उठने, बैठने, बोलने, चलने में एक सादी सी मगर दिल को छूने वाली लय थी। मैं उन्हें बार-बार देखता और विचार करता कि ऐसा ही व्यवहार करना चाहिये।'' तो स्वाभाविकता के प्रति अशोक का रुझान आगामी अभिनय-क्रांति का एक छिपा हुआ बीज था। उस समय इसका महत्व नहीं समझा जा सकता था। पर अशोक को आगे चलकर यदि अभिनेता बनना था, और पन्द्रह-बीस साल के भीतर हिन्दी सिनेमा में पारसी शैली को हमेशा-हमेशा के लिये विदा होना था। तो दस-बारह साल का वह छोकरा यह पूछकर क्रांति कर चुका था ''मामा, ऐसा क्यों करते हैं ये लोग?''

—पिछले साल अगस्त माह में जब यह लेखक अशोकजी का इंटरव्यू ले रहा था, तो उन्होंने और भी खुलासा किया—''देखिये, आमतौर पर मेरे बारे में यह कहानी प्रचलित है कि अभिनय से भागने के लिए मैंने सर मुड़ा लिया था। असल कहानी कुछ और है। उल्टे, मैंने हिमांशुराय से ज़िद की थी कि अगर वे मुझसे फिल्म में काम कराना चाहते हैं, तो मेरी एक शर्त माननी होगी। मैं कोई एक्टिंग-वेक्टिंग नहीं करूँगा, बल्कि जैसे लोग सुख-दुख एक्सप्रेस करते हैं और उसी में बड़े से बड़ा आघात व्यक्त कर जाते हैं, वैसा ही मैं करना चाहूँगा। वे राज़ी हो गये। बोले—''बस थोड़ा सा ''लार्जर देन लाइफ'' करना। मैं तैयार हो गया।''

अमिताभ को वह भाषा और वह सहज अंदाज़ विरासत में मिले।

तलाश में दाने-दाने की

"भोर भई पंछी निकले, तलाश में दाने-दाने की"—यह पंक्ति स्वर्गीय महबूब खान की एक फ्लाप फिल्म आवाज़ के सुप्रसिद्ध गीत का मुखड़ा है। सो बचपन बीता, खंडवा छूटा और मैट्रिक के बाद चल दिए दादा मुनि जबलपुर को, जहाँ उन्हें राबर्टसन कॉलेज में विज्ञान की स्नातकी करनी थी। और उसके बाद चारे की तलाश।

स्कूल के बाद मैंने कॉलेज में साइंस लिया था, क्योंकि मेरे एक अंकल जर्मनी में काम करते थे। उन्होंने कहा था कि साइंस पढ़कर जर्मनी आ जाओ। मैं अपनी लाइन में क्या करूँगा। मैं जर्मनी जाना चाहता था, क्योंकि नौकरी के साथ-साथ विदेश देखने का भी मोह था। पर बीच में ही अंकल की डेथ हो गयी। और बी.एस.सी. के बाद मैं खाली रह गया। उधर पिताजी और दादा जो वकील थे। दोनों ने प्रेसीडेंसी कॉलेज कलकत्ता से लॉ किया था, जहाँ कभी देश के प्रथम राष्ट्रपति स्वर्गीय डॉक्टर राजेन्द्र प्रसाद और मेरे पिताजी साथ-साथ हॉस्टल के एक कमरे में रह चुके थे। मैं कलकत्ता चला गया और एल.एल.बी. करने लगा। स्कूली जीवन से ही मुझे फोटोग्राफी से लगाव था। सो, कलकत्ता निवास के दौरान, अवकाश के क्षणों में 'न्यू थियेटर्स' की प्रयोगशाला में जाकर फोटोग्राफी की जिज्ञासा को शांत किया करता था। इन्हीं दिनों पता चला कि बाम्बे टॉकीज के हिमांशुराय जर्मनी से कैमरा और फोटोग्राफी के बारे में बहुत कुछ सीखकर बम्बई आये हैं। मेरे बहनोई शशधर मुखर्जी से उनकी जान पहचान थी। मैं जर्मनी जाकर काम करना चाहता था, मैं इस मकसद से अपने बहनोई के पास बंबई चला आया कि वे मेरा परिचय हिमांशुराय से करा देंगे और हिमांशुराय मुझे जर्मनी की किसी कंपनी के लिए रिकमेंड कर देंगे। बम्बई में मेरी हिमांशुराय से मुलाक़ात हुई। मगर बजाय जर्मनी की किसी कंपनी में रिकमेंड करने के, उन्होंने मुझसे कहा कि वहाँ जाकर क्या करोगे? आखिर लौट कर भारत में ही काम करना है। इसलिए मेरे पास लग जाओ। मैं तुम्हें लैब असिस्टेंट का काम दिये देता हूँ। मैं लेबोरेटरी में काम करने लगा। यह बात सन् 1934 की है। पर यह नौकरी भी किस्मत में बदी नहीं थी। एक दिन हिमांशुराय का हीरो भाग गया और चेहरा पोत-पातकर मुझे कैमरे के सामने खड़ा कर दिया गया। मैं सोच रहा था कि एक्टिंग की इस लाइन में 5-10 साल से ज़्यादा क्या टिका जा सकता है। मैं बार-बार महसूस कर रहा था कि मैं बड़ा हो गया हूँ और कमाने-धमाने में पिताजी की मदद करनी चाहिए। पर अब ऐसा लग रहा है जैसे हमारे हाथ में कुछ नहीं है। जीवन बस नदी है। बहते जाइये और बहते जाने को ही अपना रोज़ का भविष्य समझते जाइये। मैंने इस प्रवाह में अपने को छोड़ दिया था और प्रवाह को बाँधने के बजाय अपने को प्रवाह के

हाथों बहने के लिये तैयार कर लिया। मुझे अनिश्चय के इस दौर में मज़ा भी आने लगा था, क्योंकि रोज़ कुछ नया, अनसोचा, अप्रत्याशित देखने को मिल रहा था। **जीवन नैया** (दादा मुनि की प्रथम फिल्म) जब रिलीज हुई तो मैं परदे पर आ चुका था, पर अपने लिए रोमांचित ज़रा भी न था। यह डर सता रहा था कि माँ-बाप को क्या मुँह दिखाऊँगा। नाते-रिश्तेदार नाराज़ होंगे सो अलग।''

''अपने इन्हीं प्रारंभिक दिनों की एक और बात याद आ रही है। **जीवन नैया** के लिए हिमांशुराय ने पहले जर्मन निर्देशक फ्रांज आस्टिन से मेरा स्क्रीन-टेस्ट लेने को कहा। आस्टिन ने मुझसे कहा—तुम्हारा जबड़ा चौकोर है। तुम एक्टर नहीं बन सकते। घर जाओ। कानून की पढ़ाई करो। मैं हां या नहीं कहने की स्थिति में नहीं था। पर कैमरे से भी ज़्यादा तीख़ी और समझदार आँखें इंसान की ही हो सकती हैं। अतः हिमांशुराय ने मुझमें कुछ देख लिया था और वे उसी पर अड़े रहे। आज सोचता हूँ तो लगता है कि असल चुनौती का सामना पहले उन्होंने ही किया था। क्योंकि मुझे लेकर वे अकेले एक तरफ़ थे और मेरे समेत सारी यूनिट दूसरी तरफ़ थी। किस विश्वास ने उन्हें इतना दृढ़ बना दिया था? मुझे आगामी ग्रेट एक्टर साबित करने का उनके पास कौन-सा सबूत था? जब मैं अपने को ही ठीक से नहीं जानता था, तो वें मेरे बारे में इतना आश्वस्त कैसे हो गये थे? मैं सोचता हूँ कि अभिनेताओं की तरह निर्देशकों में भी *इंट्यूशन* नामक कल होती है, जो अपना काम बाक़ायदा करती है। मुझे याद है कि जब पिताजी मुझे इस बदनाम पेशे से निकालने के लिये बंबई आये थे, तो हिमांशुराय ने उन्हें रोककर, बड़े आत्मविश्वास से कहा था— आप इस लड़के को यहीं रहने दीजिये। कल यह कुछ बनकर निकलेगा।''

दिला दो हमें भी दुल्हन गोरी-गोरी

''उन दिनों बंबई में मुझे ढ़ाई तीन सौ रुपये महीने मिलते थे। मैंने एक कॉटेज लिया था। सोचता था मेरी इनकम पाँच सौ, छह सौ महीने हो जाये, तब शादी करूँगा। मगर माता-पिता चाहते थे कि मैं उसी वक्त शादी कर लूँ। घरवालों के सामने एक और अड़चन थी। हिमांशुराय मुझे एकदम पश्चिमी रंग में ढाल रहे थे। होटल में-घर में किस तरह खाना पीना, उठना, बैठना, चलना, फिरना, बातचीत करना चाहिए। इन सब बातों की एक तरह से ट्रेनिंग चल रही थी। मैं इस ट्रेनिंग से ऊब चुका था। लेकिन घरवाले सोचते थे, यह एकदम पश्चिम ढंग में रंग गया है। क्या पता इसे कोई लड़की पसंद आती भी है या नहीं। माँ ने जो लड़की पसंद कर रखी थी, वह ज़्यादा पढ़ी लिखी नहीं थी। लेकिन माँ भी यह अच्छी तरह जानती थी कि मैं पिताजी से बहुत डरता था (डरता कैसे नहीं, आख़िर पहलवान थे)। उन्होंने पिताजी से तार करवा दिया। अशोक जबलपुर फौरन पहुँचो। मैं फौरन जबलपुर पहुँच गया। स्टेशन पर पिताजी खड़े थे। बोले—आगे जाओ। लेडीज़ कम्पार्टमेंट में तुम्हारी भाभी हैं। उनसे पूछो, उन्हें कुछ चाहिये तो नहीं। मैंने

भाभी से पूछा—कहाँ जा रही हैं? वे बोलीं तुम्हारी शादी में। मैं सकते में आ गया। "शादी मेरी शादी?" वे बोलीं—हाँ, इसमें चौंकने की क्या बात है? चलो घर। हम घर पहुँचे तो माँ ने मुझे देखकर कहा—शादी के लिए राज़ी हो गया? मैंने कहा—हाँ जो लड़की तुम्हें पसन्द है, मुझे भी पसंद है। माँ मुझे अपनी पसंद की लड़की दिखाने ले गयी। लड़की को रिवाज के मुताबिक सजा-धजाकर रखा गया था। उसका बेसुरा गाना भी सुनना पड़ा। शादी का दिन तय हुआ शुक्रवार।"

बाराती थे कुल पाँच ठो!

"बाद में लड़की वालों को पता चला कि लड़के का जन्मदिन भी शुक्रवार है। सो उन्होंने कहा, नहीं, शुक्रवार के दिन शादी नहीं हो सकती। क्योंकि जिस दिन व्यक्ति का जन्म होता है, वह दिन उसके लिए अशुभ होता है। आगे छह महीने तक मुहूर्त नहीं था। मैंने सोचा—चलो अच्छे बचे। पर उन्होंने न जाने कैसे एक तरकीब निकाली! कहा—कल शादी हो सकती है। मैंने कहा यह कैसे हो सकता है? पर होना था, होकर रहा। आनन-फानन सबको तार किया गया। इतने जल्दी कौन आता, न मेरे रिश्तेदार आये न उनके। बाराती सिर्फ़ पाँच थे। मैं, पिताजी और मेरे चचेरे भाई। शादी का इंतजाम एक कमरे में किया गया था। हम वहाँ जाकर बैठे। पंखा शायद खराब होगा, जिसे खूब तेल-वेल डालकर चलने की हालात में लाया गया था। सो पंखा जैसे ही चला, तेल छपाक-छपाक उड़कर हमारे कपड़ों पर पड़ने लगा। खैर कपड़े बदले। शादी हुई। दूसरे दिन जब मैं पत्नी को लेकर घर पहुँचा, तो दीदी (श्रीमती एस. मुखर्जी) ने कहा, दादा मुनि, आख़िर आप शादी के लिए तैयार हो ही गये। मैंने कहा, शादी के लिये तैयार नहीं, शादी ही कर आया। अब दीदी और जीजा लगे बिगड़ने, "व्हाट नानसेंस" हमें बताया तक नहीं। क्या बताता मुझे ही सब कुछ ठीक-ठाक मालूम होता, तब न।"

ये तमाम उद्धरण देश की बड़ी-छोटी पत्रिकाओं से तकरीबन हू-ब-हू ले लिये गये हैं। मुश्किल से मैंने एक दो वाक्य या कहीं-कहीं एकाध पैराग्राफ अपनी ओर से जोड़ा होगा। मक़सद यही रहा कि यथासंभव जितनी फर्स्ट हेंड, सूचना पाठकों तक पहुँच सके, उतना अच्छा। काम फिलहाल यहाँ सिर्फ़ इतना किया है कि इतिवृत्तों को अपनी भाषा में रि-राइट करने के बजाय अधिक जोर उनकी व्याख्याओं पर और उनसे कुछ निजी निष्कर्ष निकालने पर दिया है। ये निष्कर्ष उतने ही सही हो सकते हैं जितने ग़लत भी। या निष्कर्ष के नाम पर महज़ रैश्नलाइजेशन भी। पर पसंद, अनुमान और खोज के बीच किसी कोण से, अनजाने, सार्वभौमिक सूत्र आ जाता है। इसलिये मैं आश्वस्त हूँ कि कुछ हद तक पाठक एक निश्चिन्त छोर पर पहुँच रहे होंगे। वैसे, अब तक की तमाम कथाओं-उपकथाओं से दादा मुनि का जो रूप हमारे सामने आता है, वह यह है कि वे बचपन से युवावस्था तक क़ाफ़ी शर्मीले और एकांतमुखी थे। खुलते सिर्फ़ क़रीबवालों में थे। निर्भयता और सुस्पष्ट सोच

उनमें कूट-कूटकर भरा था, क्योंकि उन्हें संपन्न, सुरक्षि [illegible] माहौल और भरे-पूरे परिवार का लाड़-प्यार मिला था। [illegible] अनुशासित, सुसंस्कृत और साहित्यगर्भित परवरिश, जैसा [illegible] बच्चन को मिली। दादा मुनि के बारे में एक बात और है [illegible] सटीक भाषा उन्हें जन्म से मिली है। उनकी फिल्मों [illegible] पुट और बोलचाल का घरेलूपन लिये नहीं आता। इस [illegible] और उनके अलावा भारत में कोई सिने कलाकार नहीं हुआ, जो [illegible] को पाटकर हमारे ऐन पड़ोस की भाषा बोल सके। इन्टोनेशन के [illegible] दादा मुनि।

श्रीमती शोभा अशोककुमार गांगुली : [illegible]

कुछ शब्द अब श्रीमती शोभा अशोककुमार गांगुली [illegible] सीधी-सादी महिला थीं। एकदम मैटर-ऑफ-फैक्ट और गृह प्रबंधन में [illegible] साधारण चेहरे मोहरे की गंभीर और अनुशासन-प्रिय महिला थीं। दादा [illegible] सम्मान करते रहे, और काफ़ी हद तक उनके रोब में भी रहे। दोनों [illegible] और खंडवा के मध्यमवर्गीय रहे। घर पर अंग्रेजी के ग्लैमर और बंबई [illegible] टाकन का असर रहा हो, पर इस महान् कलाकार (अभिनेता) की [illegible] माता-पिता की दी हुई सादगी, संस्कारशीलता और पारस्परिक [illegible] रहीं। स्वभाव और संस्कार का ऐसा ज़ोर रहा, कि दादा मुनि गृहस्थी के बाहर की हदों में कभी नहीं गये और न उन्हें यह पसंद रहा। किसी ज़माने में [illegible] चिटनीस से उनका नाम जोड़ा गया, मगर सारा मामला संभवतः [illegible] मैत्री, अशोककुमार की मिज़ाजी झिझक, से अधिक नहीं रहा। [illegible] माने हुए, विश्लेषणशील, और बहसपसंद रहे। लिहाज़ा महिला [illegible] अधिक यही रहा कि बीच का एक एक कण, बुद्धि और [illegible] प्रकाश में, रोमांस-रस से अधिक बहस के सुख का, बर्फ-खंड [illegible] छिपकर वे किसी बाहरी स्त्री को अंक में भर सकते थे, और [illegible] उनसे ठहाके

लगाते हुए, कोई कचरा आँखों में पाल सकते थे, यह असंभव ही लगता है। दादा मुनि ने गृहस्थी में एक नियम का आजीवन पालन किया—"साढ़े आठ बजे तक घर लौट आओ और परिवार के साथ रहो।" अपने मन की सभी बातें, वे शोभाजी को बता देते। कई बार राय-सलाह भी लेते। बच्चों की परवरिश व शिक्षा-दीक्षा का भार शोभादेवी ने ही उठाया, क्योंकि दादा मुनि फिल्मों में व्यस्त रहते। दोनों को साथ देखने से लगता कि किसी छोटे से टाऊन की संपन्न और सभ्य जोड़ी जा रही है। शोभाजी के साथ दादा मुनि बच्चों के पिता और पत्नी चालित पति ही अधिक लगते। उनके तमाम फोटो, बिना बन ठनके और बिना मेनरिज्म के, सीधे-सादे फोटो हैं। उनमें दादा मुनि अभिनेता से अधिक एक सभ्य, संपन्न, सरल इंसान अधिक लगते हैं। हँसी—वही कॉस्मिक और घरेलू।

श्रीमती शोभादेवी हाल में ही गुज़रीं। उनकी मौत से दादा मुनि के अंतरंग जीवन का बहुत बड़ा हिस्सा और बहुत सी निजी यादें, उनके साथ, दफ़न हो गयीं। दूसरा, अनशेयरेबल हिस्सा दादा मुनि के पास बचा है पर इस सुलझे हुए इंसान ने वह भी बर्दाश्त कर लिया। प्रेस में बस इतनी ही बात पहुँची—"बेडरूम में हम दोनों ने कभी तय किया था कि जो पहले इस दुनिया से जायेगा, वह लौटकर दूसरे को उस दुनिया के राज को बतलायेगा। पर वह नहीं आयी।" फिर अपना चिरपरचित ठहाका लगाते हुए पूछते हैं—"भला ऐसा कैसे हो सकता है?" हकीक़त यह है कि बुद्धि से शासित यह इंसान कभी दुख को अपने पर हावी नहीं होने देता। ज्ञान से सब कुछ झटक देता है। इतवार को बेटे-बेटियाँ मिलने आ जायें, तो उन्हें भी लौटा देता है, क्योंकि इतवार अब उसके लिए सिर्फ़ क्रासवर्ड भरने के लिए है। यहीं मिलता है राज कि वह जीवन भर आशा और उत्साह के पात्र कैसे कर गया। दर्द की सुतलियाँ उसके चौड़े भाल पर तंग पड़ती रही हैं।

सफ़र जारी है :

बचपन के बाद किशोरावस्था और फिर जवानी। दादा मुनि के संदर्भ में इनका बहुत कुछ उपलब्ध हिस्सा हम थोड़ा बहुत जान चुके हैं। पूरा हम जान भी नहीं सकते। स्वयं दादा मुनि अपनी जीवनी बताने बैठें, तब भी नहीं बता सकते, क्योंकि जिन्दगी में अपने हिसाब से बहुत कुछ घटता बढ़ता है, जिनका सिलसिलेवार और पल-पल का ब्यौरा नहीं रखा जा सकता। फिर अपने ही जीवन के बारे में बताना या लिखना हो—तो पसंद, चुनाव और निजी व्याख्याएँ आ जाती हैं। स्मृति स्वयं बहुत सा हिस्सा, व्यक्ति के मिज़ाज के मुताबिक छोड़ देती है और बहुत-सा जमा किया हुआ हिस्सा बखानने के वक़्त, कम ज़्यादा महत्वपूर्ण लगता हुआ, यहाँ वहाँ छूट जाता है। अतः अंततः "मेरे हिसाब से मेरी आत्मकथा" या "मेरी समझ के मुताबिक

उनकी जीवनी'' बचती है।

लिहाज़ा दादा मुनि के बारे में हमने अब तक जो जाना, वह एक तरफ़ा और सीमित है। उसी एकदेशीयता के भीतर वह कामिया और मुकम्मल भी है। वह इस नज़रिये से रेखांकित होता है कि एक अभिनेता के मनोरचनातंत्र को गढ़ने वाले तत्वों को हम कितना अधिक समझ पाते हैं। यह वर्णन और पोस्टमार्टम दरअसल एक अभिनेता का है। उससे अधिक जानना और समझाना न मेरा लक्ष्य था, और न अशोकजी की मुकम्मल आत्मकथा के अभाव में वह संभव था। मेरे लिए अशोक जैसे बच्चे रहे, वैसे ही जवान हो गये, और जवान होने के बाद, हमारे पास, उनके बारे में उनकी फ़िल्मों से हटकर, जानने के लिए कुछ नहीं है। एक तरह से उनका प्राइवेट जीवन बचा भी नहीं, क्योंकि *प्राइवेट जीवन* के लिए वे स्वयं भी नहीं बचे। **उनकी फ़िल्में ही उनका इतिहास हैं।**

हमारे लिए दादा परदे पर ही जवान और बूढ़े हुए। यहीं हमने उनके मानसिक विकास और बदलते हुए नज़रिये को जाना। हमारी ही नाक के नीचे वे सुघड़ सलौने प्रेमी बने, और हमारी ही बरौनियों के क़रीब वे खलनायक का रोल करते हुए, बूढ़े बाप या दादा बने। अभिनय तो ख़ैर वे जानते नहीं है, जैसा रेडियो सीलोन के गोपाल शर्मा ने उनकी ब्याज-प्रशंसा में कहा था। इसलिए अन्दर-बाहर से एक इस अभिनेता का परदे से जीवन या जीवन से परदे में, समझना एक ही बात है। वे टू-इन-वन हैं। हवा, जिसका दूसरा नाम भी हवा है।

सन् 1934 में दादा मुनि बंबई पहुँचे थे। सन् 1935 में उन्होंने *जीवन नैया* की। इसके बाद वे आज तक 300 से ऊपर फ़िल्मों में काम कर चुके हैं। इनमें बहुत-सी साधारण और दूसरे दर्जे की फ़िल्में हैं। कुछ सीधी फ्लाप हैं। कुछ के तो नाम याद रखने की भी ज़रूरत नहीं है। जैसे **अंगूठी** जो बम्बई में दूसरा दिन नहीं कर पायी। **जलपरी** जैसी स्तरहीन कास्ट्यूम फ़िल्म में भी उन्होंने काम लिया, जिसके नायक दलजीत या महिपाल हो सकते थे। यह पूछे जाने पर कि दूसरा जन्म मिलने पर वे क्या करेंगे, वे बोले—'सबसे पहले तो मैं **डार्क स्ट्रीट** जैसी फ़िल्मों में काम नहीं करूँगा।' मगर क्या बात है कि उनकी माँग हमेशा बनी रहती है? आज भी गेस्ट रोल के लिए अस्सी हज़ार रुपये लेकर एक निर्माता क्यों उनके चक्कर लगा रहा है? इसका कारण है—दादा मुनि जीवन की तरह विराट् और व्यापक हैं। उनमें जीवन की तरह उत्साह और अनेकधर्मिता है। दर्शक आज भी परदे पर उस अशोककुमार को देखना चाहता है जिसका ठहाका आसमान जैसा धुला और साफ़ है। **अशोक याने आशा**। जीने का माद्दा और यह सब वे इतनी सहजता से

अंजाम देते हैं जैसे सिर्फ़ हवा बह रही हो और बादलों में कोई कचरा न अटका हो। इस निर्वैयक्तिकता को मिडलटन मरे ने *निगेटिव केपेबेलिटी* नाम दिया था। इसी निस्संग सहजता को लिये दादा मुनि आज भी परदे पर आ रहे हैं।

अपने अभिनय के बारे में दादा मुनि कहते हैं—"सच मानो, भाई। मैं एक्टिंग-वेक्टिंग नहीं करता। मैं तो सिर्फ रिएक्ट करता हूँ। तुम पूछोगे, तब आप मेहनत किस चीज़ की करते हो? तो मेरा जवाब है, मैं भूलने के लिए मेहनत करता हूँ, ताकि मेरे ख़ाली जेहन में उस किरदार का नाक-नक़्श उभर आये, जिसे मैं करता आया हूँ और वह मेरे अभिनय में प्रिन्ट हो जाये। श्रीकांत जोशी याद दिलाते हैं—"मैं नायक नहीं बनना चाहता। मुझे तो मात्र दो मिनट दे दो। मुझे उसी में अपने को व्यक्त करते आना चाहिए। **दीदार** में फ़कत दो मिनिट मेरे हैं। जब मैं दिलीप को चाँटा मारता हूँ और दरवाजे के जोड़ में हाथ फँसाकर जोर से दरवाजा खींच लेता हूँ।"

अशोक कहते हैं—"शुरू में मैं बहुत बुरा एक्टर था। आज कोई वैसा एक्टिंग करे, तो उसे मैं बतौर निर्देशक फिल्म से निकाल दूँ, लेकिन बाद में मैंने निरीक्षण से बहुत सीखा। उसके मॉडिल मैंने जीवन से लिये। वे कहीं और मिलते भी कहाँ। अर्से तक फिल्मों में डबिंग की व्यवस्था नहीं थी। इसलिए बड़ी मेहनत करके यह सीखा कि सीन के बन्द होते समय ही मैं सही *इन्टोनेशन* के साथ संवाद बोल जाऊँ। यह सब एक दिन में नहीं हुआ। आज भी मैं खोजबीन में लगा रहता हूँ। सच मानिये, मैंने बच्चों तक से सीखा है, क्योंकि तीखे और फर्स्ट हैंड इम्प्रेशन्स उनके चेहरे पर आते हैं। अपने अभिनय के शुरुआती दौर में मैं हॉलीवुड के रोनाल्ड कोलमेन, लसली हावर्ड, मेरी ड्रेसलर और स्पेंसर ट्रेसी से प्रभावित था। कई बार तो मैं कैमरे के सामने आँख बन्द करके सोचा करता कि स्पेंसर मेरी जगह इस रोल को कैसा करता। मगर कुदरत खुद कॉपी नहीं करने देती। एक हद के बाद जिस्म और रूह की आदतें आपको अपनी गिरफ़्त में ले लेते हैं और आप एक ऐंठी हुई रस्सी की तरह वापस अपनी लय में खुलने लगते हैं। इसी मुश्किल ने मुझे अपनी सहज़ता की तरफ़ लौटाया और वहाँ से मैं हट नहीं सकता था, क्योंकि वहाँ से कोई नहीं हट सकता। दरअसल मुग़ालतों के टूटते जाने का नाम ही विकास है। यही *सेल्फ डिस्‌कवरी* है। सच मानो एक्टिंग बेहद सरल और मुश्किल चीज़ है—अपनी चाल को दुबारा सीखने जैसी।" पर यह कसरत अभी भी ख़त्म नहीं हुई। **जीवन नैया** का कलाकार कहता है—"मेरी आख़िरी फिल्म अभी तक नहीं आयी। साँस आख़िरी हो सकती है। कला नहीं। मैं सीख रहा हूँ। आप भी सीखते रहिये। There is no last word in acting."

2 अशोककुमार : व्यक्ति और कलाकार

कल्पना कीजिये कि अशोककुमार नामक अभिनेता की मानसिक संरचना और अभिनय-प्रतिभा वैसी ही होती। मगर उसका जिस्म और चेहरा बदल गया होता। कल्पना कीजिये कि उसके पास गोरा रंग, चौड़ा माथा, पनियल आँखें और खुली हँसी नहीं होती और वह कुछ और होता। आपके जेहन में आसान सा जटिल सच साफ़ सच होने लगेगा कि अभिनेता के अभिनय को ख़ास अंदाज़ देने में उसके शारीरिक दृश्य का निर्णायक हाथ होता है। आप दिलीपकुमार की प्रतिभा यथावत् रखकर उसका दार्शनिक चेहरा, धनुषाकार भौंहें और गहरी आँखें छीन लीजिये, बहुत सा दिलीपकुमार गुम जायेगा। इस मामले में एक अललटप्पू और दार्शनिक सिद्धान्त यह बनाया जा सकता है कि प्रकृति शायद पहले अमूर्त मानसिकता रचती है और फिर उसे माकूल मूर्त काया उढ़ा देती है। इस कीमती गप्प का सारभूत पहलू यह है कि अशोककुमार को ख़ास शख़्सियत देने में उनकी लुक का बहुत बड़ा हाथ है।

चौड़ा माथा, चौकोर चेहरा, मजबूत जबड़े, संवेदनशील नासिकाग्र, पनियल आँखें, घुँघराले काले बाल, मुस्कराती कोरें, क्रोध में तमतमा जाने वाला अधिकारी चेहरा और जज़्बातों के एक-एक रेशे को सही शक्ल देने वाला इन्टोनेशन—यही बाहरी अशोककुमार हैं। इसी में जोड़ लीजिये—ठिगना ठस्स बदन, गरिमायुक्त चाल और सिगरेट मुँह में लगाने और सुलगाने का वेल-टाइम्ड अंदाज़। इस बाह्य सामग्री में फिर जुड़ता है आंतरिक व्यक्तित्व का प्रभाव, एक ऊष्म एक मीठा फील और अमूर्त आंच। लगता है आप किसी शालीन वनराज की मुलायम अयाल की चमकदार धूप-छाँव में खड़े हैं। यूँ पृथ्वीराज कपूर में इतना सौन्दर्य और ताज़गी थी, पर पाँचवें दशक के अशोककुमार का खुलापन और ऊष्मा नहीं थी। दिलीपकुमार में मुगलिया बुलंदी और एमिली, ब्रांटेक हीथक्लिक की आदिम इन्टेन्सिटी हैं, पर उसमें अशोक का वैज्ञानिक स्पर्श और खुलापन नामौजूद है। फैंटेसी की भाषा में कहा जाये तो यह कि चर्चिल, शरलॉक होम्स और ठहाकेबाज़ मोतीलाल नेहरू के घटकों से जो व्यक्तित्व बनता है, वही अशोककुमार का है। एक हँसती हुई *विराटता*, जो सुख और दुख को समान भाव से पचा जाती है और ज़िन्दगी को गरिमा तथा आशा के साथ देखती है। इस पृष्ठभूमि में अब याद कीजिये, **मेरे महबूब** फिल्म का वह दृश्य, जहाँ प्राण, बदहाल, नबाब, (अशोककुमार) को हवेली से निकालने

और
ना।
ली
पच
सके
चत्
हुत
न्त
और
यह

खें,
हरा
हरी
और
में
मूर्त
दार
पर
में
समें
कहा
एकों
जो
तथा
फल्म
लने

के लिये आते हैं। पर अशोककुमार जब सामने पड़ते हैं तो उन्हें छेड़ने की जुर
कोई नहीं कर पाता। **भीगीरात** में वे एक सम्पन्न आधुनिक बने हैं। क्लब में उच्च
वर्गीय साथी उन्हें अपमानित करते हैं और क्लब छोड़ देने को कहते हैं, क्योंकि
उन्होंने अपनी गोवर्नेस मीनाकुमारी को अपने घर में रख लिया है। पर दृश्य
उनके चेहरे पर शराफत और सच्चाई का जो तेज है वह उन तमाम पात्रों को डि
कर देता है। **ऊँचे लोग** में वे अंधे मेजर बने हैं। पर जो स्वाभाविक गरिमा उन
उठने-बैठने में है, वह राजकुमार को गौड़ बना देती है। वह अंधा आपकी तर
के ऊपर है। फिल्म **भाई-भाई** में वे अपने ही छोटे भाई की प्रेमिका निम्मी
नचाते हैं। शराब के नशे में उसके साथ खलनायक की हरकतें करते हैं। पर व
सीन सीधा-सीधा गले नहीं उतरता, क्योंकि पात्रगत *खलनायकी* के नीचे भी अशोककुम
शालीन सुसंस्कृत लगते हैं। **ज्वेलथीफ** में वे ख़तरनाक रिंग लीडर बने हैं,
बाहर की दुनिया में रौबदार डी.एस.पी. है। पर जब वे एक्सपोज होते हैं तो उनव
ग्रेन्जर कम नहीं होता, बल्कि वे और भी *लाइफ साइज* हो जाते हैं, जैसे अमेरिक
और अंग्रेजी फिल्मों के ग्रैण्ड विलेन होते हैं।

अशोककुमार में एक क़िस्म की बेतकल्लुफी और घरेलूपन है। उनकी आवाज़
समझदार और सुलझे पड़ोसी का पुट मिलता है, जो अफ़सर कॉलोनी में पाये ज
हैं। वे सोशल रोटेरियन की तरह मालूम पड़ते हैं। जो बिलियर्ड अच्छा खेलता
और कभी-कभार मनबहलाव के लिये जुआ खेल लेता है। पर यह आई.ए.ए
अफसर दरअसल जुआ नहीं खेलता, बल्कि साथी अफसरों के आग्रह पर, दोस्ता
लापरवाही के साथ, पत्ते हाथ में ले लेता है। तब उसके होंठ में सिगरेट दबी हो
है और चौड़े चौकोर हाथ में सोने की अँगूठी, मय नग के चमक रही होती
वह चाल हार जाता है और पैसे सरकाकर "हो हो" करके हँस पड़ता है। सब
आकर्षक चीज़ उसकी कुदरती हँसी है, जिसमें असभ्यता या ओछापन का छींटा न
है। उसके बात करने का उदार, घरेलू लहजा भी सुनने वाले को क़रीबी का अहस
देता है। **बंदी** में वह अचानक घर में प्रवेश करता है और अपने छोटे भाई किश
से कहता है कि गाता है तो "तबियत से गा"। इस कहने में न कोई एक्टिंग
न बनने, ठनने का प्रयास। बस खंडवे की सड़क से एक निमाड़ी सरलता फेंक
गयी है । अशोक को जीवन, सड़क और पड़ोस से अलग कर पाना असंभव है
फिल्म इंस्पेक्टर में वह गीताबाली से "दिल छेड़ कोई ऐसा नगमा" गीत सुन
के बाद कहता है—"तुम्हें पार्टी में ऐसा दर्द भरा नगमा नहीं गाना चाहिये था।
तब ऐसा लगता है, जैसे वह समझदार सच्चा और सुलझा हुआ प्रेमी है। .....
"बड़े भैया" या केयर टेकर सा अंदाज़ उसकी सभी रोमांटिक फिल्मों में नज़र आ
है। जितेन्द्र की तरह शोहदा प्रेमी वह कभी नहीं लगा। **दीदार** में नरगिस से उसक

सगाई हो चुकी है। वह रात में नरगिस के घर पर कोई किताब पढ़ रहा है। तभी नरगिस किंचित भड़कीले दृश्य में, छातियों की संधि-रेखा साफ़ दीखती हुई, कमरे में प्रवेश करती है। हम जानते हैं कि छेड़ने का थोड़ा हक़ उसे है। पर हम जानते हैं वह *बदतमीजी* नहीं करेगा। एक जगह उसी फिल्म में टी-टेबल पर वह रुमाल निकालकर मुँह पोछता है। मगर सारा *थ्रो* ऐसा लगता है जैसे वह जन्मजात जेन्टल युवक है। हमें यह मानने में ज़रा भी कठिनाई नहीं होती कि नरगिस के बाप ने उसे जमाई के रूप में चुना है, तो लड़का न सिर्फ़ भला और योग्य है, बल्कि अगले सीनों का होनहार डॉक्टर भी है, जिस पर कोई भी श्वसुर गर्व कर सकता है। वह हमेशा प्यारा मँगेतर, आदर्श प्रेमी और वफ़ादार पति है। इतना ही नहीं, **खट्टा-मीठा** में वह अपने लाड़ले किशोर लड़के को पेशाब कराने ले जाता है। पर बाथरूम में जिस सहजता से बंबई का *पोपट* शब्द बोलता है, वह हाल में शिष्ट हँसी तो पैदा करता ही है। पर बाप के लिए 'बेटा सदा बच्चा है' यह उदारभाव भी उस अच्छे प्यारे पापा के पक्ष में पैदा करता है। **मिली** में उसने जिस सहजता और ऊष्मा से जयाभादुड़ी के बाप का रोल किया है, उसे महसूस करके भी प्रेमत्व पितृत्व पर भरोसा होता है।

मगर ये रूप ज़रा बाद के हैं। हम सन् 1935 से 1955 तक के प्रेमी में लौटें। मराठी के फिल्म साहित्यकार शिरीष कणेकर अपनी किताब **यादों की बारात** में अशोक का पारंपरिक *रेखाचित्र* कुछ इस तरह खींचते हैं—नयी कोंपल सा कोमल चेहरा, कजरारी बड़ी आँखें, तेल से तर करके, जमाई गयी काली घुँघराली अलकें—इन सबसे एक नाजुक, स्त्रैण पुरुष का चित्र बनता था। बॉम्बे टॉकीज़ को शायद ऐसे ही नायकों की ज़रूरत होती थी। **हुमाँयू** में अशोक को भाला फेंकते देखकर लोग शरमाते थे, इसका अलग ही किस्सा है। शिरीष कणेकर के मुताबिक उसने मात्र **किस्मत** में अच्छा काम किया है। बीड़ी से पुलिस को सिगरेट का चटका देकर भाग निकलना। इसे देखने के लिये दर्शक टॉकीज़ों में टूट पड़ते थे। **संग्राम** में स्टाइल से ओठों में सिगरेट दबाये और तमाम दुनिया पर लापरवाही की नजरें फेंकने वाले अशोक की एक झलक के लिए लोग बेताब थे। आगे मौजूँ टिप्पणी करते हुए कणेकर लिखते हैं—"देविकारानी का नायक शर्मिला था। लेकिन नलिनी जयवंत का नायक अपनी जगह टिक सकता था। उम्र के साथ उसका व्यक्तित्व खिलता गया और अभिनय सँवरता गया। दिवंगत मित्र की विधवा के साथ शादी करने का साहस उन्होंने **एक ही रास्ता** में ही बतलाया।" पर यह स्थूल टिप्पणी है। अशोककुमार *फिनामेनन* कुछ गहरे विश्लेषण की माँग करता है। मसलन, उन्हें रोमेंटिक आदर्श प्रेमी के रोल क्यों मिलें? इनमें वह क्यों फबे क्यों स्वीकृत हुए? **एक ही रास्ता, सबेरा** और **परिणीता** जैसी फिल्मों में वह एकदम फिट क्यों लगे?

इसके कारण उनके व्यक्तित्व में है और तबकी आदर्शवादी, सुधारवादी फिल्मों
भी। फर्ज़ कीजिये, आपको कथानक में एक शालीन, विश्वसनीय और सुरुचिपू
नायक की जरूरत है और दूसरी ओर एक स्पष्ट "पाजिटिव" केरेक्टर की आवश्यकत
है, तब आप अपना नायक किसे चुनेंगे दिलीपकुमार को? राजकपूर को? देवआनं
को? या अशोककुमार को? फर्ज़ कीजिये आप 'साधना' बना रहे हैं और सुनीलद
की जगह आपको किसी और अभिनेता को लेना है, जो वैश्या से शालीन—संय
प्यार करता हुआ अंत में उसे अपना ले, तो तेजस्वी और जागे हुए अशोककुमा
के सिवा कौन सा अभिनेता आपको अपने कंसेप्ट के निकटतर मालूम पड़ेगा? औ
यह अकारण नहीं है कि भारतीय हिन्दी फिल्मों की कथा-परंपरा में हमें नायकों
दो टाइपों को ही मूलतः प्रयोग में लाना पड़ा है—सकारात्मक और नकारात्मक
नकारात्मक आर्किटाइप वह है जो, जो रोमांस करता है, प्रेम करता है और शरा
या टी.वी के रास्ते कब्र में चला जाता है। शुद्धतः यह ट्रेजिक नायक है या बीच-बी
में ट्रेजिक है, जिसे दुख और तनाव के घुमावदार, लंबे रास्ते के बाद और तनावपू
क्लायमेक्स के आगे, नायिका मिल जाती है। इस फार्मेट का प्रतिनिधित्व दिलीपकु
और राजकपूर ने किया है। सुरेश, शेखर, सज्जन, भारत भूषण और (पुरान
शम्मीकपूर इसी नस्ल के *वेरियेन्टस्* हैं। दूसरी ओर, सकारात्मक आर्किटाइप है, जिस
प्रतिनिधित्व अशोककुमार, मोतीलाल, बलराज साहनी, सुनीलदत्त और शशिकपूर
अभिनेताओं ने किया है। परदे पर ये लोग मध्यम पाली के संतुलित और सुस
मॉडिल है। ये आशावादी हैं। जीने और जिलाने में विश्वास करते हैं। ये उत्ते
और अतिरंजित इंसान नहीं हैं, बल्कि मुसीबतों में अपना दिमाग़ कंधे पर रखते
और हर हाल में आगे प्रकाश देखते हैं। माना ये आत्मघाती, अंतर्मुखी या परध
ही मेन नहीं होते। मगर साधारण तनावपूर्ण क्लायमैक्स को, विश्वसनीय संयतता
लाँघकर, एक पॉजिटिव अंत को रचते हैं। अशोककुमार की फिल्में सामाजिक सम
को लेकर चलती हैं और उसका सुखद हल पेश करती हैं। ऐसे कथानकों
दिलीपकुमार के विपरीत, युवा अशोककुमार आशावाद की चटक लेकर आते हैं
उनका शालीन इंटेलीजेंट लुक इस संरचना को विश्वसनीय फ्रंट देता है। इस
पर सही शब्दावली गढ़ते हुए डॉक्टर किशोर वालीचा कहते हैं—" शरत्चंद
देवदास", के.एल. सहगल की आत्मविध्वंसक छवि और भावुकता, वैराग्य
शोकांत प्रेमी राष्ट्रीय मानस से, जो स्थायी नायक उन दिनों परदे पर रूपायित
वह निराश, निषेधवादी और रूमानियत से भरा हुआ था। इसके विपरीत, अशोक
का नायक शांत और संयत प्रतीत होता था। वह अतिशयोक्ति के सिनेमा को ना
करता था। दिलीपकुमार से अशोककुमार की तुलना इन विपरीत ध्रुवों को स्पष्ट
देती है। दिलीपकुमार की छवि निराशा और वेदना की थी। वह दुख, टूटन
मौत को प्रोजेक्ट करता था, जबकि अशोककुमार की छवि आशा की दीप्ति

फैलाती थी। उसकी तरोताज़ा मुस्कराहट और जीवन की ओर सकारात्मक पहुँच—जो अक्सर अतिरंजनारहित प्रतिक्रिया में रेखांकित होती थी। उसे सरल, सहज और सकारण छवि देती थी। अशोक के नायक में भावुकता के बजाय नैतिक चिंता का दर्शन होता है। अशोक याने काले बादलों में प्रकाश की किरण।

तो जैसा इस लेखक ने पीछे कहा—अशोक ब्रिटिश इंटेलीजेंस और अमरीकी खिलंदड़ेपन का सुसंस्कृत भारतीय संस्करण हैं। इसीलिये वह डॉक्टर, वकील, डिटेक्टिव, सी.आई.डी. और इंजीनियर के रूप में खूब फबते हैं। तर्क प्रखर वकील और तीव्र घ्राणशक्तिवाला डिटेक्टिव, जो बाल में से खाल निकालकर या खून के स्थल से छोटा-सा क्लू पाकर सीधे गंतव्य पर जा धमकता है—अशोक की युवावस्था के तर्कसंगत रोल हैं। **सरदार, इंस्पैक्टर, नाइटक्लब, ये रास्ते हैं प्यार के** तथा चोपड़ा की अधिकांश फिल्में इस दावे को सच साबित करती हैं।

एक दिलचस्प वाक़या भी बयान कर दूँ। हुआ यह कि जिन दिनों मुझे अशोककुमार का इंटरव्यू लेने चेंबूर जाना था, एक रात मुझे विचित्र स्वप्न आया। मैं और मेरा मित्र—मित्र का चेहरा मैं आख़िर तक देख नहीं पाता—अशोकजी के बंगले से इंटरव्यू लेकर निकल रहे हैं। हम उनके साथ कार में बैठे हैं। कार उन्हीं के घर के आगे वाले रास्ते से, मुख्य सड़क की तरफ भागी जा रही है। कार को खुद अशोककुमार चला रहे हैं। सपने में उनकी उम्र यही 45-50 के आसपास है। सामने से 3-4 आदमी चले आ रहे हैं। वे भले मानस लगते हैं। पर कार जैसे ही उनके पास आती है, अचानक अशोककुमार दरवाज़ा खोलते हैं और हमें बलात् बाहर ढकेल देते हैं। हम सड़क पर गिर पड़ते हैं। हम देखते हैं कि अशोककुमार उन लोगों से निपट रहे हैं और उन्हें रस्सी से बाँधकर स्टेपनी में या किसी जगह डाल देते हैं। वे फिर हमसे कहते हैं—"अब जाओ।" आगे सपना टूट जाता है। हैरानी की बात यह है कि ऐसी किसी घटना के बारे में मैंने दूर तक नहीं सोचा था। हाँ, इन्टरव्यू लेने के लिये जोरशोर से टेलीफोन पर पूछताछ चल रही थी। मगर सोचता हूँ कि यह सपना अकारण नहीं है। वह अशोककुमार के बुनियादी चरित्र को—जैसा मेरे अवचेतन में वर्षों से रहा होगा—दर्शाता है। ग़ौर कीजिये, वे इन्टरव्यू के बाद हमें कार में छोड़ने जा रहे हैं, क्योंकि मैं सोचता आया था कि वे उदार, मिलनसार, और शिष्टाचारी हैं। दूसरे, सपने में हमने जिन लोगों पर शंका तक नहीं की, उन्हीं को ताड़कर हमें बचाने का उपक्रम करने लगते हैं। इसके पीछे मेरे अवचेतन में यही धारणा रही होगी कि यह शख़्स बेहद इंटेलीजेंट है, और तेज़ी से ख़तरा सूँघ लेता है। खंडवा के हिन्दी लेखक, प्राध्यापक श्रीराम परिहार लिखते हैं—"अशोककुमार का कभी-कभी एक ख़ास अदा से बिजली की तरह मुड़ना, चुपचाप खड़े हो जाना और साँस खींचकर छोड़ना—इसी में वे बहुत कह देते हैं।"

वहीं के ही कैलाश मंडलेकर का कहना है—"भारतीय अभिनेताओं में अगर कोई कुशाग्र बुद्धि, चपल और क्विक ग्रेस्पिंगवाला अभिनेता है, तो वह निस्संदेह अशोककुमार हैं। उनमें ठंडापन और आलस्य ज़रा भी नहीं है। लगता है जैसे कोई तेज ब्लेड हैं, जो बिना हिले-डुले नीचे ही नीचे काटता चला जा रहा है। आरती में उन्होंने भौहों को काटकर ऊपर की तरफ़ नुकीला कर लिया, ताकि वे मीनाकुमारी के खीजे हुए और बदला लेने वाले प्रेमी के रूप में बखूबी नज़र आएँ पर इससे भी ज़्यादा असर डालती हैं, उनकी चुभती हुई तेज़ आँखें और ठंडे लोहे से शांत, सिलगते शब्द।" कहना न होगा कि ये तमाम वक्तव्य अलग-अलग ढंग से अशोककुमार के एक ही मुख्यगुण को रेखांकित करते हैं। उनकी तीखी पर्सेप्टीविटी और बौद्धिक चपलता। सरलता और सहजता—अशोक के अभिनय-तंत्र की—ख़ास ख़ूबियाँ हैं। कृत्रिमता और बड़बोलापन उनके यहाँ नहीं मिलता। स्पष्टता और डायरेक्टनेस शायद उनके स्वभाव में है। तभी उन्होंने बचपन में मामा से पूछा था कि स्टेज़ पर अभिनेता लाऊड एक्टिंग क्यों करते हैं और किताबी, बड़बोली भाषा क्यों बोलते हैं? ग़ौर कीजिये उन हाथों को, जहाँ अदालतों में वे किसी घटना का वर्णन करते हैं (सबेरा, कानून और आशीर्वाद)। उनकी भाषा, प्रस्तुति और संवाद-अदायगी सीधीसादी और सपाट होती है, जैसे उन्हें तथ्य से मतलब हो, चूँकि सच या तथ्य, सीधा सरल और स्पष्ट होता है। याद कीजिये, दिलीप और उनके दृश्यों को। अशोककुमार जहाँ स्टेट व संयमित हैं, दिलीप वहीं थोड़ी नाटकीयता और उक्ति-वैचित्र्य का सहारा लेते हैं। ग़ौर करेंगे तो आपको दिलीप में अति का हल्का सा पुट मिल जायेगा, जबकि अशोक प्रभाव के लिए कुछ नहीं करते। उनके लिए तथ्य, परिस्थिति और नेचुरल रिएक्शन ही अहम् है। उसमें कुछ जोड़ने का मतलब है कि आप बन रहे हैं और बना रहे हैं। चरणजीत कौर (बंबई की आंग्लभाषी लेखिका व फिल्म समीक्षक) लिखती हैं—"अशोकजी के संवाद बोलने की शैली आम है। उत्तेजना की जगह वे प्रखर संवेदनशीलता से काम लेते हैं। कम शब्दों में अधिक व्यंजित कर देना उनकी ख़ासियत है। अपनी बात कहने के लिए उन्हें बहुत हाथ पैर नहीं हिलाने पड़ता। बस सेन्सेटिव तरीक़े से वे मनोभाव या स्थिति को स्टेट कर देते हैं।" स्व. अभिनेता ने इस लेखक को बतलाया था—"कई बार मैं डॉयलॉग बदलवा देता हूँ। कई बार खुद लिखवाता हूँ इसका कारण यह है कि फैक्ट इज इम्पोर्टेन्ट नॉट दि पर्सन। हाँ, किसी जज़्बाती सीन में थोड़ा-सा उठना पड़े तो मैं चेहरे पर तनाव दिखाना पसंद करता हूँ या कथन को संवेदनशील बनाता हूँ। कई बार मैं डॉयलॉग जोड़ भी देता हूँ, क्योंकि लगता है, सीन में पात्र यह भी कहता है। परिणीता में मैंने सिर्फ़ एक डॉयलॉग रहने दिया था "शांति में तुमसे प्रेम करता हूँ" आशीर्वाद में मैंने एक डॉयलॉग जोड़ दिया था—"भगवान का खेल समझना बड़ा मुश्किल है, मोहन भैया बड़ा मुश्किल है।"

अशोक की संक्षिप्तता और मंतव्य को सीधे बयान करने की तत्परता को रेखांकित करते हुए किशोर बलीचा स्पष्ट करते हैं—"अशोककुमार को परदे पर जो कहना होता है, उसे वे रोज़मर्रा की सीधी और साफ़ शैली में कहते हैं। उनके और इरादे के बीच में अर्थ के साफ़ उजाले के सिवाय कुछ नहीं होता। **दो भाई** फिल्म को देखिये। शुरू में वे नायिका को बताना नहीं चाहते कि उन्होंने एक आदमी की हत्या की है। पर जब कथा की माँग को देखते हुये, उन्हें आख़िर में बताना ही पड़ता है, तो वे दिलीपकुमार के रेटोरिक या नाटकीय चुप्पी या आत्म-दया से लिपटे भावुकतावाद का सहारा नहीं लेते। बल्कि दो टूक शब्दों में, तथ्यपरक ढंग से, संक्षिप्त आत्म-स्वीकारोक्ति कर लेते हैं।" उस दिन एक मराठी भाषी विदुषी कह रही थीं—"आप दिलीप कुमार की जज़्बाती अदाकारी पर फ़िदा हैं। पर आज की किसी भी सुशिक्षित और वैज्ञानिक विचारधारावाली महिला से पूछ लीजिये। वह **दीदार** के डॉक्टर अशोक कुमार को ही पसंद करेगी। कारण यह है कि जीवन को झेलने, उसकी वास्तविकता को समझने और व्यावहारिक गुत्थियों को सुलझाकर अपने या दूसरे के लिए जीवन को जीने योग्य बनाने में चरित्र की दृढ़ता और सुलझ की जो जरूरत होती है, अशोक उसका प्रतिनिधित्व करते हैं। मुझे अशोक ही पसंद हैं।"

अशोककुमार की एक और खूबी है। समीक्षक से लेकर दर्शक तक बराबर उसे महसूस करते आये हैं। पर अवचेतन से निकालकर उसे चेतन में लाना और फिर फ्रीज करके उसे तटस्थ विषय की तरह देखना, अभी नहीं हुआ है। वह खूबी है—उनकी आवाज़ का लहज़ा और उससे ज़ाहिर होती शख़्सियत। इस पर ध्यान न जाने का कारण यह है कि हमारा मुख्य संसार आँखों के दम पर चलता है और हमारा अधिकाधिक निरीक्षण, देखने की क्रिया में सीमित रहता है। मगर अशोककुमार के अभिनय को हम सिर्फ़ आवाज़ तक सीमित कर दें और कान के माइक्रोस्कोप से उनके इन्टोनेशन को समझें तो हमें उनमें बहुत सी खूबियाँ नज़र आयेंगी। बड़े से बड़े तनाव के सीन को भी वे सपाट मगर दिल में उतर जाने वाली आवाज़ में कर जाते हैं। उनकी आवाज़ में कोई बाहरी विशेषता नहीं है, यही उस आवाज़ की आंतरिक विशेषता है। उसमें शोर, चीख और उठान ज़रा भी नहीं हैं। संवाद की प्रस्तुति में वे गद्य के सहगल हैं। याद कीजिये। पर आपको कभी याद नहीं आयेगा कि उन्होंने दिलीपकुमार की तरह आवाज़ चढ़ाकर या उसे एकदम फुसफुसाहट में उतार कर संवाद बोले हैं। बस निन्यानवे प्रतिशत प्रसंगों में एक मीडियम पिच रहता है। और उसी शांत झील में वे तूफ़ान, दावानल, सिलगन और शालीनता से भरा प्यार व्यक्त कर जाते हैं। उनकी आवाज़ की अर्थसंगत लहरियों को आप अंधे के रूप में ही बेहतर महसूस कर सकते हैं। कुछ उदाहरण देखिये। **गुमराह** में उनकी पहली पत्नी का देहान्त हो चुका है। वे शोक से क़रीब-क़रीब टूट चुके हैं। पर उस घनीभूत पीड़ा को वे किसी यूरोपीय संयम के साथ बर्दाश्त करते हैं। एक

जगह सर्दीली, अनुत्तेजित आवाज़ में एक-दो मार्मिक जुमले बोलते हैं और फिर सब कुछ ख़त्म। **ऊँचे लोग** के अँधे पात्र में वे अपने आँखों वाले दिनों के मेजर की यादें बयान करते हैं और साथ के सैनिकों का नाम लेते हुए कैमरे के सामने खड़े रह जाते हैं। इस सीन में दर्द को अभिनय का जामा पहनाना है, मगर उसे वे शांत, कोल्ड आवाज़ में पहनाते हैं। न कोई अतिरंजना, न कोई फुसफुसाहट और न कोई मैनरिज़्म। ऐसा क्यों संभव हो पाता है भला? इसलिए कि उनके पास प्यार, स्नेह और संवेदनशीलता तो है ही। पर भावुकता और उर्दू वालों का *रेटारिकल* अंदाज़ ज़रा नहीं है। अशोक का दर्द एक सामाजिक, ज़िम्मेदार व्यक्ति का संयमित दर्द है। दिलीप का दर्द एलिमेंटल, व्यक्तिवादी और आत्मसंहारक है। अशोक सबकी तरह दुखी हैं। दिलीप सिर्फ़ अपनी तरह दुखी हैं। **दीदार** में डॉक्टर बाबू और अंधा कविराज एक ही औरत के लिए अपने-अपने दर्द से गुज़रते हैं। पर अशोक के संवादों की टोन सपाट है, जबकि दिलीप के संवाद को बल उसकी ट्रेजिक इमेज और एक्टिंग के चिरपरिचित मैनरिज़्म से मिलता है। सपाट चेहरे सपाट आवाज़ के बल पर जज़्बातों के अनंत शेड्स को सार्थक अभिव्यक्ति देते हुए दर्शक में वाँछित भाव उत्पन्न कर जाना और ठंडी रात में बिना आवाज़ की बिजली गिरा देना—जैसे शांत झील में लहर भी न उठी हो—ऐसा अंडर प्ले अशोक कुमार ही करते हैं।

एक और बात है अशोक में। मोतीलाल और बलराज साहनी की तुलना में, उनका अभिनय संसार विस्तारपूर्ण और वैविध्यपूर्ण है। वे नेहरू की सी आंतरिक गरिमा भी रखते हैं। मगर ग़ौर किया जाये तो उनके पास सूरत-शक्ल और ऊँचाई की सीमा भी है। किसी भी तरह से उनका चेहरा मोहरा और अंग संचालन परंपरागत और

मान्य नायकों की दैहिक व्याकरण में नहीं आता। उल्टे वे सड़क चलते साधारण किन्तु अफसर टाइप इंसान ही ज़्यादा लगते हैं, जो आपको दिल्ली या भोपाल के सचिवालयों में मिल जायेंगे। अशोक कट पतलून, अशोक कट बाल, अशोक कट बोलने की शैली—कभी बाज़ार में नहीं आये। चले तो बस अशोक ही चले। अशोक कुमार की कहानी दरअसल सतत *इन्वाल्यूशन* की क्रमशः, चलती हुई कहानी है, जो अभी तक ख़त्म नहीं हुई है। उसमें सतत् भीतरी-बाहरी निरीक्षण, और कठोर परिश्रम का गहरा हाथ है। पुनः वालीचा के शब्दों में—"नायक के रूप में अशोककुमार की छवि, सहगल की विरासत वाले स्कूल में एकदम अलग रही। अलग ही नहीं बल्कि विपरीत भी। मूलतः यह छवि, छवि की परवाह न करने से बनी। अशोक ने मेहनत से स्वयं को प्रशिक्षित किया था और अपनी भूमिकाओं पर एक प्रोफेशनल की सैद्धांतिक सावधानी से विचार किया था। साउण्ड-ट्रेक से उनका सीधा रिश्ता था। अशोककुमार इस तरह साधारण में असाधारण और प्रत्यक्ष में प्रभावशाली अप्रत्यक्ष बन जाने की कहानी हैं।" वह विशिष्ट हम सब हैं।

अंत में, परफेक्ट टाइमिंग और अंडरप्लेइंग पर, खंडव के प्रफुल्ल नागड़ा लिखते हैं—"संध्या को मैं उनसे बातें करने का मौक़ा ढूँढ़ रहा था। कुछ तस्वीरें लेने के बाद जब लोग इधर-उधर हुए तो उन्होंने ही इशारा करके मुझे बुलाया। कैमरा, फोटोग्राफी और एंगल वगैरह पर पूछते रहे। मैं आश्चर्य कर रहा था। पर मैंने यह भी नोट किया कि ये सिर्फ़ शिष्टाचार के नाते इतनी पूछताछ नहीं कर रहे थे। उनमें स्वाभाविक उत्सुकता थी और वे अपनी जिज्ञासा शांत करना चाहते थे। बस इसी दौरान मैंने अपनी जिज्ञासा शांत करने का संदर्भ ढूँढ लिया।

मैं : दादा मुनि, कई सीनों में आप सिगरेट-केस निकालते हैं, उस पर सिगरेट ठोकते हैं और फिर लापरवाही से सिगरेट जलाकर धुँआ छोड़ते हैं। इस सबके लिये परफेक्ट टाइमिंग चाहिए। और ज़ाहिर है कि आप मन बहलाव के लिए ऐसा नहीं करते। तो ऐसा करने का मतलब क्या होता है?

दादा मुनि : सीन में मौजूद ख़ाली वक़्त मेरा नहीं, पात्र का होता है। उसे कुछ सजेस्ट करना है। वह तनाव में है,वह कोई निर्णय लेना चाहता है। निश्चय पर आना चाहता है। मैं इस गेप को भरता हूँ। फिर वह किस तबके का है? किस मिजाज़ का है? इन सब पर ग़ौर करके इफेक्ट देना पड़ता है। सो, जलती तीली लेकर खड़े रह जाना या चुरुट जलाते हुए भौहें उठाकर देखना या सिगरेट का धुँआ छोड़ते हुए लापरवाही से तीली को बुझाकर फेंक देना—ये थीम और किरदार की शख़्सियत का हिस्सा होते हैं। (हँसकर) अपने लिए चालू कैमरे के सामने सिगरेट कैसे पी सकता हूँ?

मैं : **ममता** में आप अपनी प्रेमिका सुचित्रा सेन से मिलने आते हैं। वह आपके विदेश जाने के बाद एक जुआरी, शराबी से शादी कर चुकी है। आप दोनों का

प्रेम अभी भी निश्छल है। पर जब आप उसके घर से निकल रहे होते हैं, तो बाहर उसका पति मिल जाता है। वह सब कुछ जानता है। पर आप बग्घी में बैठे हुए जेब से धूप का चश्मा निकाल कर ऐसा झटका देते हैं जैसे कह रहे हों—'मैं किसी की परवाह नहीं करता।' बतलाइये, उस सीन का यह अंदाज़ आपकी अपनी इजाद था या निर्देशक के कहने पर आपको ऐसा करना पड़ा?

दादा मुनि : फिल्में देखने वाले अभिनय को इतनी बारीक़ी से देखते हैं, यह सुनकर अच्छा लगा। देखिये, मैं सीन पर मेहनत करता हूँ। बार-बार सोचता हूँ कि एक्जेक्ट रियेक्शन कौन सा होना चाहिए उसके लिए कोई प्रतीक चुनना पड़ता है। मैं फ़ुरसत में अभिनय पर लिखी किताबें पढ़ता हूँ। कभी-कभार कोई बात वहाँ से मिल जाती है। फिर लोगों को आब्जर्व करने की आदत पड़ जाती है। सो, बहुत से जेस्चर वहाँ से उनसे मिल जाते हैं। हाँ, **ममता** के जिस सीन का तुमने जिक्र किया है उसमें डायरेक्टर ने मुझे अपनी सूझ पर छोड़ दिया था।

अंडरप्लेइंग के बारे में दादा मुनि कहते हैं—"मेरा ख़्याल है, इस सवाल को उठाना चाहिए। आप किस तरह के इंसान हैं? अगर आप भड़भड़िया हैं तो चीख पुकार कर बोलेंगे। ख़ामोश और गंभीर हैं, तो कम बोलेंगे या इशारे में बात करेंगे। औरतें अंडरप्लेइंग की मास्टर होती हैं। सो, सतह के नीचे हरकत करने वाली बात बहुत कुछ आदमी के मिजाज़ में होती है और अपने आसपास ही आपको ऐसे बहुत से इंसान मिल जायेंगे। जहाँ तक मेरा सवाल है, शायद मैं सेन्सेटिव और बारीक़ क़िस्म का आदमी हूँ। लिहाजा कैमरे के सामने अंडरप्लेइंग हो जाती है।"

खैर, हकीकत जो हो। सच यह है कि दादा मुंनि अभिनय की दुनिया की अजीम हस्ती हैं। प्रतिभा और श्रम के दम पर उन्होंने ऐतिहासिक ऊँचाई हासिल की है। इसमें कहाँ-कहाँ उन्होंने बारीक़ और गहरे निशान छोड़े हैं, उन्हें जानना, उन पर ऊँगुली रखना हमारा काम है। हाँ, अपनी ओर से यह ज़रूर कहूँगा कि इस किताब के लिए जब मुझे उनकी फिल्मों को ग़ौर से देखना पड़ा और बार-बार देखना पड़ा तब जाकर पता चला कि इस अभिनेता की धोखादेह सादगी और सतही निस्संगता के नीचे सूक्ष्मता और संवेदनशीलता का कितना प्रखर धरातल है। 'सितारों से आगे' में कांता के अविश्वसनीय आरोप के कारण जिस तरह से सिगरेट उसके हाथ से छूट जाती है, वहाँ टाइमिंग, सहजता और पात्र की अवाक्ता देखने काबिल है क्योंकि यह सिगरेट गिरती नहीं है, अभिनेता अशोककुमार उसे कैमरे के सामने गिराता है। यह ईज़ और कठिन सादगी विश्व अभिनेता के स्तर की है।

□

अशोककुमार : आकलन

क्या मतलब है आकलन का? किसकी तुलना में हम आकलन कर रहे हैं? आकलन का मानक क्या होगा जिसे बगल में खड़ा करके हम बाक़ी सब माप डालें, जिसका हम आकलन करना चाहते हैं? अभिनेता अशोककुमार के संबंध में इसका अर्थ मोटे तौर पर यही है कि हम पता लगाएँ, वह समीक्षकों व जनता के बीच कितना सफल-असफल रहा। और इस सफलता-असफलता का पैमाना भी क्या होगा? यही कि हम उसे एक अभिनेता के रूप में कितना पसंद करते और चाहते है। कितना उसकी फिल्मों पर टूटते हैं और प्राथमिकता से उन्हें देखना चाहते हैं। आकलन का एक मतलब यह भी होगा कि हम उसके अभिनय तंत्र से स्तरीय अभिनय के कितने सार्वभौमिक सूत्र निकालते हैं कि एक तरह की स्टेंडर्ड अभिनय-व्याकरण बन जाये और आगामी कल के अभिनेताओं को हम उसे संदर्भ-ग्रंथ के रूप में पकड़ा सकें।

भारतीय सिनेमा में अशोककुमार के योगदान को आँकने के लिये हमें उस दौर की मानसिकता और माहौल पर दृष्टिपात करना ज़रूरी है, जब उन्होंने प्रचलित सिनेमा की चौहद्दी में अपनी प्रविष्टि दर्ज़ की। तब पारसी थियेटरों का जमाना था। मंच पर ड्रामाईपन और अतिरंजना का ज़ोर था। नाटक को जीवन की अनुकृति मानने के बावजूद उसे जीवन से अलग माना जाता था और उसमें कृत्रिम भव्यता का आयोजन किया जाता था। साधारण से साधारण संवाद, (नाम पूछने या पानी माँगने जैसा) रोजमर्राई स्वाभाविकता से हटकर 'मॉक हीरोइक' ढंग से बोला जाता था। इसका कारण मुग़लकाल से चला आता हुआ छद्म गरिमावाद, उर्दू और इस्लामी तहजीब से जन्मा हुआ उक्ति-वैचित्र्यवाद (रेट्रिसिज्म) और नाटक- विद्या का सामंती और फुरसती तबके से मनोरंजन का संबंध था। इस परंपरा के चलते सामान्य आदमी भी, जाने-अनजाने, इस शैली को जज़्ब कर चुका था। मगर इसी के साथ, दूसरी ओर विश्व में विज्ञान का विकास हो रहा था। उसके कारण सोच और व्यवहार में सीधा देखने और सीधा कहने की मानसिकता जन्म ले रही थी। भावुकतावाद से यद्यपि राष्ट्रीय मानस का पल्ला नहीं छूटा था, किन्तु वह सरल-सहज यथार्थवाद को स्वीकारने और पसंद करने के उषाकाल में प्रवेश कर चुका था। सहगल, देवदास और चिरपरिचित भारतीय उदासवाद तब भी हमारा प्रिय भावमटेरियल था, फिर भी अतिरंजना और छद्म से हटने और स्वाभाविकता तथा यथार्थ को अंशतः गले लगाने के धीमे आलोक में हम प्रवेश कर रहे थे। यूँ जरूरी नहीं कि सब कुछ ऐन ऐसा

ही घटित हो रहा था, जैसा जड़ केटेगरियाँ में बँधने को मजबूर निष्प्राण भाषा बतला रही हैं। पर परदे पर अशोक के आने का वक़्त हो चुका था, और परदा तथा अशोक एक दूसरे के लिए तैयार हो चुके थे। अशोक जब आये तो उन्होंने हिमांशुराय से शर्त रखी कि वें *लाउड* और *स्टायलाइज्ड* एक्टिंग से बचना चाहेंगे। हिमांशुराय सकते में आ गये। पर, अशोक दि एक्टर की युगनिर्मात्री इन्सटिन्क्ट ने पहचान लिया था कि अब स्वाभाविकतावाद को यहाँ जड़ें जमाना होंगी, और कृत्रिमता को धीरे-धीरे विदा होना होगा। अशोक ने इसे संभव कर दिखाया। आज जब जितेन्द्र, मिथुन, अमिताभ और पंकज कपूर दैनिक जीवन की स्वाभाविक भाषा और बोलचाल की रोज़मर्राई शैली इस्तेमाल करते हैं तो हमें उन पर ग़ौर करने की ज़रूरत नहीं पड़ती। पर इन सबके मूल में 1935 में डाला हुआ अशोककुमार का नेचुरल स्कूल ही है।

अब उस दौर की दूसरी विशेषता पर ग़ौर कीजिये। स्वतंत्रता संग्राम का दौर था। गांधीजी का प्रभाव जनजीवन में फैल चुका था। उनके आदर्शवाद, अछूतोद्धार और राष्ट्रप्रेम के ऊँचे जज्बे फिल्मों के परंपरागत कथानक को बदल रहे थे और सिनेमा की इस नयी धारा को एक आदर्शवादी, सुशील और सलोने नायक की ज़रूरत थी। उसमें व्यावहारिक आदर्शवाद का पुट विश्वसनीय तौर पर नज़र आना था। साथ ही उसमें ज़मीन का रियलिज्म और कॉमनसेंससिया व्यावहारिकता दिखाई पड़नी थी। अशोक, चेहरे मोहरे और व्यक्तित्व से इन सारी शर्तों को पूरी करते जाने पड़े। **अछूत कन्या** इस दृष्टि से उस दौर की, और अनुकूल अशोक की बेहतरीन फ़िल्म हैं। इस फ़िल्म से कथानकों ने सीधा और तेज मोड़ पाया था, और अशोककुमार, सहगली, देवदास के समानान्तर हीरो का एक नया रूप लेकर आये थे, जो सहगल का दूसरा छोर था। जीवन में भी ऐसे इंसानों की ज़रूरत ज़्यादा होती है। मध्यम मार्ग के अशोककुमार, मध्यम मार्ग में, एक नया और समझदार नायक लेकर आये। यह नायक अन्तर्द्वन्द्व के दृश्यों में पीड़ा को कल्ट बनाकर, तालियाँ लूटने की जुगाड़ नहीं करता था, बल्कि अप्रिय परिस्थितियों से उठकर, जीवन में रोशनी लाना चाहता था। माना, सिनेमा के भीतर आवश्यक ट्रेजिक ग्रेन्जर के अभाव में वह मिथपसंद भारतीय जनता का लाड़ला नहीं बन सकता था, पर अनुत्तेजित विवेक की सीमा में वह बहुतायत से पसंद किया जाता रहा। उस समय के सुघड़, सलोने और शालीन अशोककुमार को निकालकर और उसकी जगह दूसरे अभिनेता को रखकर जन्मभूमि, इज्जत, सावित्री, निर्मला, और वचन जैसी फिल्मों की कल्पना की जाए तो उसका बहुत-सा ग्रेस ख़त्म हो जायेगा। **बंधन, झूला** और **कंगन** का वह शिष्ट-शर्मीला नवजवान आज तक के हीरो का बीज रूप है। ऐसा बीज, जिसमें सुगंध भी है।

आगे चलकर भारतीय सिनेमा को एक और मायने में अशोककुमार की ज़रूरत पड़ी। यह हम सब जानते हैं कि जीवन में सारे इंसान और सारी घटनाएँ हमेशा सीमांतों

पर नहीं होते हैं। चौबीसों घंटे हम न भयानक खलनायक होते हैं और न शाश्वत संत। जीवन का अधिकांश हिस्सा *मध्य* होता है। मॉडरेशन में चलता हुआ। इसी मँझले पिच पर लोग हीरो और जीरो बनते हैं और वहीं खड़े रहते हैं। अशोककुमार के रूप में हमें यह अनिवार्य और मूल्यवान मध्य मिला। अपनी अनेक फिल्मों में वह न नायक हैं, और न खलनायक, बल्कि प्रतिनायक हैं। एक ऐसा सामाजिक टाइप, जो हमारे रोज़मर्रा के जीवन में किसी विधवा का प्रेमी है या किसी परित्यक्ता का मित्र है, या किसी नायिका के जीवन में परिस्थितिवश आ जाने वाला प्रौढ़, शालीन पुरुष हैं, जो एक तरफ उस स्त्री के पूर्व प्रेमी के समानांतर एक कमनीय, आदर्श पति है, और दूसरी ओर, दोनों को थीमेटिक बैलेंस में लाने वाला, एक सबल तत्व, जो फिल्म में क्लायमेक्स या एंटीक्लायमेक्स रचता है। सन् 1950 के बाद हमारे सामाजिक जीवन में शिक्षा, संपन्नता, औद्योगिक घरानों की नौकरी और आई.ए.एस. अफसरों की क्लास के कारण स्त्री पुरुष के बीच जो तीसरा पुरुष पैदा हुआ—अच्छा, बुरा या संतुलित—उस सोशल टाइप को पर्दे पर अंजाम देने के लिये नायकों और खलनायकों के बीच अशोककुमार एक माकूल सप्लाय के रूप में आकारित हुए हैं। इस तीसरे आर्किटाइप को उसकी शख़्सियत और भंगिमाएँ देने में अशोक पायनियर हैं। यहाँ वे नायक से ज़्यादा फबते हैं और यहीं वे अपने क़िस्म की पहली और आख़िरी पहल हैं। **अनुराधा** में बलराज साहनी एक तरह से अशोक की आरक्षित भूमिका निभाते हैं। मगर वे लाचार आदर्शवादी लगते हैं, जबकि अशोककुमार का मध्यम पुरुष सदा नायिका पर हावी रहता है और थीम में उनका रूतबा बहुत कुछ उसकी निजी शख़्सियत के कारण, नायक पर भी ग़ालिब रहता है। **गुमराह, परिणीता, एक ही रास्ता** और **भीगी रात** अशोक के बिना अकल्पनीय हैं। अगर हम अशोक की अभिनय प्रतिभा को रेखागणित के बिम्बों में रखें, तो कहना होगा कि वह वर्टीकल नहीं है, हॉरीजेंटल है। हम उसमें ऊपर से नीचे नहीं जाते, बल्कि एक तरफ़ से दूसरी तरफ़ बढ़ते हैं। यह आकाश का फैलाव है। पर समन्दर की गहराई नहीं है। यह विराटता, प्रशंसा और आदर पैदा करती है। पर यह विराटता पहाड़ की नहीं है, क्षितिज के विस्तार की है। मध्यममार्गी अशोक मीडियम पिच पर अजूबे खड़े करता है। पर यह अजूबे इतिहास नहीं बनते। दीर्घकालीन दस्तावेज़ भर रह जाते हैं। अशोक का अभिनय हमें राख में छुपी अंगार मालूम पड़ता है। पर उसमें विकट ग्रेंजर का हत्स्तब्ध कर देने वाला मिथकजन्य विस्फोट नहीं है। इसका व्यक्त रूप यह है कि अशोक के किरदार मिथ, फेंटेसी, और सरियलिज्म का अति-संसार नहीं रचते। बल्कि वे कला के मिथकीय संसार में कोल्ड यथार्थवाद का दीपस्तंभ भर बनकर रह जाते हैं। यहीं हर समीक्षक को मजबूर होकर अशोक और दिलीप की तुलना करनी पड़ती है। इस देश में दिलीपकुमार अकेला ऐसा अभिनेता है, जो कला का सर्रियलिस्टिक संसार रचता है। उसके पात्र

मिस्टिक धुंध में चले जाते हैं और यह धुंध पार्थिवता से ऊपर और पारलौकि
से नीचे है। संसार की सारी कला यहाँ पहुँचकर वैश्विक, पार्थिव और अतियथार्थ
हो जाती है। मगर अशोक के यहाँ ऐसा विस्फोटक और ट्रेजिक ग्रेंजर नहीं। उ
पात्र सामान्य व्यक्ति हैं जो असाधारण हो गये हैं। पर उस असाधारणता के अ
वे प्रभावशाली अति नहीं बनते, जिसमें लॉजिक टूटता है, और लॉजिक समृद्ध हो
है। यही कारण है कि किशोर वलीचा जैसे समीक्षक को न चाहकर भी दिलीपकु
को प्रथम स्तंभ के रूप में सामने रखना पड़ता है और फिर बाक़ी बहस शुरू होती है।
मगर अशोक को अशोक की सीमा में देखा जाये, तो वह अपनी जगह पर अतुल
है। आप दिलीप की कसम खाकर उसकी फिल्में देखें, तो भी वे आपको बहा
जायेंगी। वे भी आपको एक विराटता और भव्यता का अहसास करायेंगी। लॉजि
के दोनों छोरों के बीच का संसार निश्चित ही अशोक का है वही इस विराट स
का बादशाह है। अर्थात भारतीय सिनेमा के परदे पर अशोककुमार ने जो असर
गोल्डॅन सीन रचा है, वह दिलीप की तमाम फेंटेसियों के विद्युतपात् के बावज
जीवन के आत्मघाती अँधेरों पर आशावाद के सूर्य की ख़ामोश जीत है। अशो
के व्यक्तित्व और कृतित्व के बिना पॉजिटिव केरेक्टर का इतना स्पष्ट और गा
आर्किटाइप बनाना मुश्किल ही होता।

मोतीलाल, बलराज साहनी और अशोक कुमार

बेहतर होगा कि मोतीलाल और बलराज साहनी से भी अशोक की तुलना कर ल
जाये। चूँकि ये दोनों अभिनेता उसी स्कूल के हैं। बलराज साहनी में अशोक क
तरह इन्टोनेशन की ख़ासियत है पर मोतीलाल में कोई मैनरिज्म नहीं है। वे ह
की तरह निर्वैयक्तिक हैं और पानी की तरह सहजता से पात्र के साथ एकाकार
जाते हैं। मोतीलाल में इंटेलीजेंस प्रवाह और आश्चर्यजनक ईज मिलती है। प
मोतीलाल और बलराज साहनी की तुलना में अशोक कुमार के पास तीन खूबि
एक साथ हैं। समंदर की तरह विराट् व्यक्तित्व, शांत सतह के नीचे छुपा हुअ
उर्जस्वित डायनेमो और आला दर्ज़े की इंटेलीजेंस (जिसका मिजाज़ किसी वैज्ञानिक
जासूस या वकील की सुती हुई इंटेलीजेंस सा है)। अपनी इन विशेषताओं के
कारण, मोतीलाल और बलराज साहनी की तरह नेचुरल अशोककुमार, जिन किरदा
को अंजाम देते हैं, वे ग्रीक ट्रेजडी और विश्व-सिनेमा के पात्रों की गरिमा तक पहुँचते
हैं। मोती और बलराज में इसी व्यापकता, वैविध्य और विराटता का अभाव है
उदाहरण के लिए **भीगीरात** के आनन्दबाबू को लीजिये और इस किरदार में आप
मोतीलाल या बलराज साहनी को डाल दीजिये। पात्र का उतना सुंदर निर्वाह हो
जायेगा, पर जहाँ आनन्दबाबू को मुहब्बत में जलना है, नीलिमा के प्रेमी को हाथियों
के सामने मरने के लिये छोड़ देना है, ईर्ष्या और बदले की भावना से दहकना है
बेतकल्लुफी और फिर सख़्ती के साथ नीलिमा के प्रेमी से बातचीत करना है, फि

क्लब में सदस्य मित्रों को दृढ़ता से जवाब देना है, अपाहिज नीलिमा की सेवा-सुश्रुषा करना है, और अंत में सारी मानवीय सीमाओं से उठकर नीलिमा को अचानक उसे उसके प्रेमी को सौंप देना है, वहीं इस जटिल और विराट् गुंफन को सघनता के साथ निभा जाना, मोती और बलराज के बूते की चीज़ नहीं है। **भीगीरात** का यह आनन्दबाबू, दिलीपकुमार के समानान्तर, दूसरे स्कूल का ट्रेजिक हीरो है, और उसकी विराटता, गरिमा और जटिलता, दिलीप के किसी ट्रेजिक पात्र से (ख़ासकर **दिल दिया दर्द लिया** और **आदमी** के भग्न पुरुषों से) कम नहीं है। इस तरह की भूमिकाओं में अशोककुमार का योगदान यह है कि उसने अधिक से अधिक ट्रेजडी को अधिक से अधिक अंडरप्ले किया है और उसे एक संयम, गरिमा और परिष्कार दिया है, जबकि इस्लामी भावुकतावाद से प्रभावित हमारे भारतीय ट्रेजिक हीरो इस जगह काफ़ी लाऊड और बड़बोले हो जाते हैं। इसी तरह दिलीप कुमार से अशोक कुमार की तुलना करें तो **भीगीरात** का आनन्द और **आदमी** का राजेश—उच्चकोटि के ट्रेजिक हीरो को रूपायित करते हुए एक ही महाशोक में दो समानान्तर सबल आयाम रचते हैं। अशोक में वेदना और संयम है, क्योंकि समाज की सत्ता ,उसके लिए नष्ट नहीं होती, जबकि दिलीप में वेदना और सिर्फ़ वेदना है, और समाज की चिन्ता शुरू से गायब है। बहिर्मुखी महान् और अन्तर्मुखी महान् का यही फर्क है। अशोक कुमार बहिर्मुखी महान् हैं। प्रोफेसर चरनजीत कौर के शब्दों में—"आप ग़ौर से देखिये। अन्तर्द्वन्द्व और तनाव को अशोककुमार ने बहुत बारीक़ी से चित्रित किया है। उनमें वर्ल्ड-एक्टर की सी विराटता, अंडरप्लेइंग और इन्टेन्सिटी है। फ़र्क़ यह है कि वहाँ सतह पर बहुत कुछ नज़र नहीं आता। हम उनकी सरल सपाट और घरेलू शैली में बोलने की आदत के कारण धोखा खा जाते हैं। मुझे तो कई बार लगता है कि परदे के बाहर भी वे किसी अर्थ में एक अदृश्य ट्रेजिक हीरो हैं, क्योंकि इतनी सहजता, कैजुवलनेस और उड़ता-उड़तापन जीवन के दंश को छुपाने के लिए ही है। अशोककुमार के इस पहलू पर अभिनय के इस पहलू पर-बहुत कम लोगों का ध्यान गया है।"

मगर, जैसा मैंने कहा, हम अभिनेता अशोककुमार का आकलन करने बैठे हैं और आकलन का एक मतलब मेरे लिए यह है कि पता लगाऊँ, अशोककुमार को इतना पसंद क्यों किया गया? 300 फिल्मों जैसी भारी संख्या तक वह चल कैसे गया? इन सवालों के जवाब स्तरीय अभिनय के कुछ सूत्र, गुर और मानदण्ड छोड़ते हैं। इनका संबंध अगर अशोक की जन्मजात प्रतिभा के बजाय उसकी सूझबूझ और मेहनत से है, तो अशोककुमार से अगला .अभिनेता बहुत कुछ सीख सकता है। अशोक की लोकप्रियता का कारण यह है कि उसने परदे पर जो कुछ किया सहजता

से किया। दूसरे, उसने एक हँसमुख और ज़िन्दादिल इंसान की इमेज पेश की, जिससे उम्मीद बनती थी कि ज़िन्दगी अगर ताला है तो उसे खोलने के लिए अनेक चाभियाँ भी हैं। तीसरे, ज़िन्दगी *तथाकथित* है। इसलिये हमेशा गम्भीर और मनहूस बने रहने की ज़रूरत नहीं है। चौथा, जीवन और अभिनय में पहाड़ मत बनिये, समंदर बनिये। पानी का लचीलापन बहुत सी सूरतें अंजाम कर सकता है। अंतिम, और ज़्यादा काम की बात जो अशोक से सीखी जा सकती है, वही है जिसे वैज्ञानिक एडीसन कहा गया है। "दस प्रतिशत प्रेरणा और नब्बे प्रतिशत मेहनत"। स्वयं अशोक की सफलता का गुरुमंत्र यही है।

पर क्या अभिनय के इस वट-वृक्ष की सीमाएँ हैं? क्या सैकड़ों भूमिकाओं को आसानी से निभा ले जाने वाला यह अभिनय-भीष्म कहीं कम पड़ता है? यह प्रश्न थोड़ी बहस चाहता है और मानव के सामूहिक अवचेतन की पर्याप्त समझ, दिलीपकुमार को केन्द्र में रखकर हम बहस शुरु करते हैं।

अशोककुमार और दिलीपकुमार बनाम कला में आत्मविध्वंस का सिद्धांत

आत्म-विध्वंस के लिए अंग्रेज़ी में शब्द है—सेल्फ डेस्ट्रक्शन। हिन्दी के बजाय अंगरेज़ी का यह शब्द हमारे मंतव्य के ज़रा ज़्यादा क़रीब पड़ता है। आशय यह है कि मनुष्य में पीड़ा और मृत्यु, आत्मविध्वंस के प्रति गहरा आकर्षण है। यह आकर्षण मनुष्य की आत्मा की गहराइयों में छिपा हुआ है। सच्चाई संभवतः यह है कि भौतिक जीवन की रचना क्योंकि एक अनश्वर, आनन्दमय और मुक्त तत्व से हुई है, इसलिये वेदना, मृत्यु और आत्मविध्वंस के प्रगट विरोधाभासों के रास्ते मानव का गहन अवचेतन इसी अनश्वरता, आनंद और मुक्ति में लौटना चाहता है। लिहाज़ा पीड़ा, मृत्यु और आत्महत्या की मानवीय और सामाजिक व्याख्या यह होगी कि ये निषेधात्मक और त्याज्य तत्व हैं। पर कला के संसार में प्रतिभा अपने रचनात्मक इन्ट्यूशन से, इन्हें अनजाने, ग्लोरीफाय करती है,. और उपन्यास या नाटक में आकर्षक आत्मविध्वंस का सुनहरा संसार रचती है। इस न्याय से अगर देवदास का आत्मविध्वंस और करुण मौत, पाठक या दर्शक को डराते हुए भी, सुखद आह्लाद से भरते हैं तो यह कला के तर्क के भीतर अस्वाभाविक नहीं है। देवदास की मौत दरअसल हमें मृत्यु पर विजय मालूम पड़ती है, क्योंकि मेटाफिजिक्स के उल्टे तर्क संसार में आत्मपीड़न और मृत्यु दुख के ख़िलाफ़ सुख और अस्तित्व भंग के ख़िलाफ़ आत्मा की अनश्वरता, का झंडा लिये खड़े हैं। यही कारण है कि दुख, तनाव और आत्मविध्वंस हमें गुप्त रूप से आकर्षित करते रहेंगे और महान् ट्रेजेडियाँ हमें पसंद

आती रहेंगी। संसार की श्रेष्ठतम् साहित्यिक रचनाएँ तब इसी आत्मविध्वंस के आस-पास लिखी जायेंगी और जीवन के रचनात्मक विरोधाभास को कला तब इसी तरह बाहरी निषेधात्मक रूप में पेश करती रहेगी।

दूसरे शब्दों में, मार्क्सवादी समीक्षक कितना ही चीखें और आशावादी समाजवादी कितनी ही बोम लगाएँ, सामूहिक अवचेतन, पतंगे की तरह, कला के फेंटेसी संसार में, मौत और आत्मविध्वंस को गले लगाता रहेगा और अनजाने उच्चकला के मापदंड ट्रैजिक हीरो और उसके आत्मविध्वंस के आस-पास बनेंगे। इस नाते ट्रेजेडी और ट्रैजिक हीरो ही, आशावाद और निराशावाद के ऊपर, मृत्युंजयी लोकप्रियता के कारण और परिणाम बनेंगे। यही कारण है कि दिलीपकुमार, समीक्षकों को अच्छा लगे या बुरा, सामान्य सिने-दर्शक का प्रिय नायक है और रहेगा। और इसी के साथ ही दिलीपकुमार की योग्यता और अयोग्यता का निर्णय दिलीपकुमार के संदर्भ में होगा।

संसार की महानतम् ट्रेजेडियाँ—जो कला के संसार में गढ़ी जाती हैं—एक क़िस्म की धुध, अकथ रोमांच, और प्रभावशाली अमूर्त्तता लिये होती हैं। उनमें तथ्य और कल्पना, सच और झूठ, स्पष्टता और अस्पष्टता, और विश्वसनीय और अविश्वसनीय का रोमांटिक मेल होता है, जो वेदना और सुख की अतीन्द्रिय संध्या-अनुभूति पेश करता है। अभिनेता दिलीपकुमार ने भारत में इसी *मिस्टिक* ग्लेमर को जन्म दिया है। **मधुमती, देवदास, आरजू, आदमी, दिल दिया दर्द लिया** और **अमर** जैसी फिल्मों में उसने कथानक और अभिनय के मेल से सघनतम अनुभूति का रस-संसार रचा है। उर्दू भाषा, मज़ाहिया शायरी, और इस्लामी संस्कृति के बड़बोलेपन ने उसे *ग्रेंड ड्रामा* के घटक दिये हैं, जिनमें अपनी पठानी सघनता और शेक्सपियरी रेटरीसिज़्म को जोड़कर उसने लोकप्रियता के मेयार का फ़ौलादी स्तंभ खड़ा कर लिया है। लिहाज़ा, जाने-अनजाने और अनिवार्यतः, हमें इन दो महानों की तुलना करनी पड़ती है! अशोककुमार और दिलीपकुमार की। और मेरी समझ है कि भारत के एक महान् अभिनेता होते हुए भी दादा मुनि की शख़्सियत, पात्र और अभिनय में वह अलौकिकता नहीं है, जो दिलीप की शख़्सियत, पात्र और अभिनय में मिलती है। वहाँ रहस्य और अतीन्द्रियता की जमीनपारी धुंध नहीं है। वहाँ मौत का विकट आकर्षण नहीं है। वहाँ *सेल्फ डेस्ट्रक्शन* का प्रिय और आतंकवादी माहौल नहीं है। वहाँ जैसे सब कुछ पार्थिव और पूर्वानुमानित है। मगर यदि हम ग़ौर करें तो तुलनात्मक अध्ययन अशोककुमार और दिलीपकुमार का उतना नहीं है, जितना कला की दुनिया और आदिम-मानव-मन में मौजूद गरिमा, इन्टेन्सिटी और अतीन्द्रिय *विपर्यय* के प्रति लगाव का है। इन्हें समझने और सराहने में हम केवल अशोककुमार और दिलीपकुमार को *कम्पेयर-कंट्रास्ट* नहीं कर रहे हैं, बल्कि उनके आगे जा रहे हैं। आगे चलिये .....

'महल' और 'मधुमती'

महल और मधुमती की थीम पारलौकिक तत्व—सुपरनेचुरल—पर आधरित है। दोनों में सुन्दर प्रेतात्मा की उपस्थिति है। दोनों का माहौल रहस्य और रोमाँच से भरपूर है। पर महल में अशोक का पात्र सिर्फ़ स्तब्ध और भौंचक्का है। उस पर ज़मीनपारी रहस्यात्मक की धुंध नहीं चढ़ती। इसके विपरीत, मधुमती में दिलीपकुमार स्वयं रहस्य और धुँध का हिस्सा हो जाता है। आख़िरी दृश्य में जब वह मधुमती की प्रेतात्मा को देखता है, उसकी आँखों में मसाजी चमक उभर आती है। वहाँ आँखों से जीवंत और अतीन्द्रिय अभिनय-स्पर्श दे जाना दिलीप का कमाल था। जबकि **महल** में अशोककुमार ज़मीन का ही पात्र बना हुआ है और पार्थिव से ऊपर नहीं उठता। **मधुमती** के हवेलीवाले दृश्य में, जहाँ तूफ़ान और हिलते पर्दों के बीच, दिलीपकुमार उग्रनारायण (प्राण) की तस्वीर बनाने का छद्म् रचता है, दिलीप का अभिनय विश्व स्तर का हो गया है। वहाँ वह आवाज़ तथा आँखों के सहारे एक इंटेस अलौलिक संसार रच देता है। अशोक तथा अशोक के पात्र में यह उठान नहीं है, क्योंकि ''महल'' में पात्र का कंसेप्टशन भले ही रहस्य की लाइन पर तैयार किया गया हो,

अशोक का रैश्नलिस्ट और यथार्थवादी व्यक्तित्व तर्क के स्थूल और डल संसार को लाँघ नहीं पाता। महल, मधुमती के बजाय, कम इंटेस और लोमहर्षक फिल्म है। एक अकेले दिलीप के सिवा (यहाँ तक कि अमिताभ बच्चन भी) भारत का कोई भी अभिनेता *लॉजिक* उलट नहीं पाता। इसी तरह **दीदार** का एक दृश्य लीजिये। अशोक, नरगिस और दिलीपकुमार ताँगे में चले जा रहे हैं। हाथ में हंटर लेकर घोड़े को नरगिस चला रही है। पिछले कुछ दिनों से वह परेशान है, क्योंकि दिलीप द्वारा गाये हुए बचपन के गीतों को सुनकर उसकी स्मृति अस्तव्यस्त हो चली है। तभी घोड़े पर जाती हुई एक बच्ची को देखकर दिलीपकुमार बरबस फुसफुसाने लगता है—'बचपन के दिन भुला न देना।' यह गाना बुलंद अंत के लिए रफी का दिया हुआ है, इसलिए जैसे ही रफी का अंतरा ख़त्म होकर ऊँची तान में बदलता है, नरगिस बेसहाता घोड़े को मारने लगती है। आगे दुर्घटना हो सकती है। इसलिए गीत का एकल नाद ख़तरनाक क्यालमैक्स की ओर बढ़ने लगता है। यहाँ हम सब जानते हैं कि दुर्घटना में सबके साथ दिलीप की मौत भी हो सकती है, पर वह आत्मविध्वंसक पागलपन के साथ गाये चला जाता है। हमें फुरफुरी उठने लगती है। यहाँ ट्रेजिक हीरो ने ज़मीन की सुपरिचित लॉजिक उलट दी है। ऐसे दृश्य अशोककुमार के बूते की चीज़ नहीं है। **दिल दिया दर्द लिया** और **भीगीरात** में दोनों ही कलाकारों के पात्र ईर्ष्याजन्य विकृति में वहशी हो जाते हैं। पर 'भीगीरात' में अशोककुमार का जंगल में प्रदीप को जंगली हाथियों के बीच छोड़ देना और **दिल दिया दर्द लिया** में दिलीपकुमार का प्रेमिका को उसकी मँगनी का तोहफ़ा देने आना—इन दो दृश्यों में— दिलीपकुमार का अभिनय लोभहर्षक डिरेंजमेंट को छू लेता है, जबकि अशोककुमार हमेशा के *स्टॉक जेस्चर्स* से काम चला लेते हैं। कहने का आशय यह है कि कला में अतीन्द्रिय संसार रचना और ज़मीन की सुरक्षित, संतुलित लॉजिक को उलटकर एक डरावना आनंद पैदा करना एक उच्च क़िस्म की तामीर है, और अशोक के ट्रेजिक हीरो में हमें यह बात नहीं मिलती। इस मायने में बुलंद कला के *सर्रियलिस्टिक और मिस्टिक* स्वभाव को देखते हुए जो मेरी समझ में कला और संसार का मूलभूत गुण है—अशोक एक स्वयं-सिद्ध सार्वभौमिक प्रतिमान से एक इंच नीचे पड़ जाते हैं। यह उनका अपराध नहीं है। पर जहाँ वह अपनी विराटता और भव्यता के साथ हैं, कला के अशोक-स्तंभ की कलगी उनके क़द से थोड़ी ऊँची ही पड़ती है। किशोर वालीचा के शब्दों में—''एक तरह से यह कहना मुमकिन है कि अशोककुमार उन ऊँचाइयों को छूने में असमर्थ रहे, जिसे दिलीपकुमार ने हासिल की।''

मगर हम बहस में दूर तक उतर गये। (यूँ वह ज़रूरी था।) सवाल अशोककुमार या किसी अभिनेता का नहीं है, बल्कि यह है कि अगर हम कला, साहित्य और

अभिनय की कोई स्वयं सिद्ध ऊँचाई तय करना चाहें, तो हमारा स्तर-बोध हमें कहाँ तक ले जायेगा? मैंने विनम्रता से अर्ज़ किया कि ग्रेंजर—और ट्रेजिक ग्रेंजर ही—कला का आत्मघोषित उच्च शिखर है। इसमें कॉमिडी भी शामिल हो जाती है, क्योंकि स्तरीयता, व्यंग्य, हास्य, यहाँ तक कि ट्रेजिडी भी, वहाँ उपस्थित होती है। इस चोटी के नीचे अशोककुमार हैं और अपनी चोटी स्वयं हैं। उनके मूल्यांकन में यही कहा जा सकता है कि जब तक जीवन और अभिनय के तादात्म्य को अभिनय-कला का प्राण समझा जायेगा, वे भारतीय अभिनेताओं की अग्रिम पंक्ति के अग्रणी अभिनेता समझे जायेंगे, और जब तक आशा, उजियारे, हास्य और उल्लास को आवश्यक सक़ारात्मक गुम समझा जायेगा, वे हमेशा एक अनिवार्य, आशावादी नायक के रूप में याद आयेंगे। एक तरह से कहें तो यह कि वे जीवन और अभिनय में समान रूप से लोकप्रिय हैं, जबकि कई अभिनेता परदे पर जादू बिखेरकर सामान्य जीवन में अपना रेखांकन खो चुके होते हैं। अशोककुमार गांगुली आला इंसान और आला अदाकार एक साथ हैं। याद कीजिये, मुस्कराते हुए, प्रफुल्ल चेहरे के अलावा कोई अशोककुमार याद नहीं आयेगा।

क्या अशोककुमार विश्व-स्तर के अभिनेता हैं?

''यक़ीनन्''। इस प्रश्न के उत्तर में श्रीकांत जोशी कहते हैं और पलट कर पूछते हैं ''विश्व अभिनेता की आप क्या परिभाषा मानते हैं?'' फिर वे आत्मविश्वास के साथ स्पष्ट करते हैं, ''देखिये, आमतौर पर हमारे दिलोदिमाग़ में यह मिथक घर कर गया है कि जो कुछ भी उत्तम, स्तरीय और अद्‌भुत है, वह सिर्फ़ विदेश के खेतों में उगता है। जी नहीं, हमें भारत की परंपरा और इथॉस में से अपना उत्तम चुनना होगा फिर उसे विश्वस्तर पर माप कर देखना होगा। भारत में सच्चाई यह है कि यहाँ आदमी हृदय-पक्ष से शासित होता है। वह परिवार और समाज की मर्यादाएँ, कुंठित तथा पाखंडी होने की हद तक, मानता है, पर आदर्शों को कम से कम थ्योरी की सीमा में मानने से पल्ला नहीं झाड़ता। लिहाज़ा इस नेशनल इथॉस से हमारा जो भारतीय नायक रूपायित हुआ है, वह अशोककुमार जैसे व्यक्तित्व के ही ज़्यादा क़रीब आता है। मैं तो कहूँ कि दिलीपकुमार के चिरपरिचित पात्र भी विराट् आर्य-परंपरा का प्रतिनिधित्व नहीं करते। क्योंकि प्रेम में टूट मरने और समाज को नकार जाने की आत्म-सम्मोहित वैयक्तिकता उर्दू साहित्य या अरबी संस्कृति में ही अधिक है। तो देखना होगा कि अशोककुमार भारतीय नायक के परंपरागत टाइप को किस हद तक जीवंत और प्रामाणिक बनाते हैं और किस हद तक हमारा रेचन या संपोषण करते हैं? मेरी समझ है कि **एक ही रास्ता** और **परिणीता** का नायक ही हमारा आदर्श भारतीय नायक है। इसे अशोककुमार के सिवा किसी ने इतना साँगोपांग भराव नहीं दिया।'' मैं उन्हें टोकता हूँ—''मगर अशोककुमार के विश्व अभिनेता होने वाली बात ...?'' वे अधीरता से कहते हैं—''हाँ-हाँ उसी पर आ रहा हूँ। वि

अभिनेता के कौन से गुण-धर्म हो सकते हैं। यही न?" वे गिनाते हैं-"विराट् व्यक्तित्व," भाव की सघनता और कम से कम आंगिक-वाचिक प्रदर्शनों द्वारा संबंधित भाव या मन्तव्य की सटीक अभिव्यक्ति।" मैं सहमति में गर्दन हिलाता हूँ। वे **कानून** फिल्म का उदाहरण देते हैं। "मेरी समझ में जज बद्रीप्रसाद का किरदार अशोककुमार ने जिस सूक्ष्मता, गरिमा और प्रखरता से निभाया है, वह विश्व स्तर के अभिनेतो की कूव्वत की चीज़ है। हम इसे तभी ठीक-ठीक समझ सकते हैं, जब कैमरे के सामने हमें काम करना पड़े।" इसी बहस को समाजशास्त्र की प्राध्यापिका श्रीमती सुरेन्द्र कौर छावरा ने यूँ बढ़ाया—"मेरे ख्याल से विश्व अभिनेता की पहचान है। विराटता याने लाइफसाइज इमेज। दादा मुनि में, मैं इसे भलीभाँति देखती हूँ। इसके अलावा उन्होंने कितने रूप धरे हैं और कितने कन्विंसिंग रहे हैं।" छात्रा कुमारी प्रतिपाल कौर (अंग्रेजी, अंतिम वर्ष) बोली—"दादा मुनि की एक भी फिल्म मुझे याद नहीं आती, जिसमें वे अशोककुमार हैं। सभी फिल्मों में बस उनके पात्र ही याद रह जाते हैं। इतना विराट् वैविध्य और तिस पर ऐसा अनोखा *सेल्फ इफेसमेंट*! इसके बाद भी अगर कोई उन्हें *वर्ल्ड एक्टर* न मानें तो इसे मैं उसका दुर्भाग्य कहूँगी।" मध्यप्रदेश के एक पत्रकार महेश कौशिक ने कहा—"अशोकजी में तीन बातें एक साथ मिलती हैं—भव्यता, विराटता और सघनता। आप कोई भी उनकी फिल्म देख लीजिये। एक प्रच्छन्न विराटता का अहसास लगातार होता रहता है। मैंने **आशीर्वाद** देखी है। उसमें उन्होंने मौत का जो सीन दिया है उसका तीख़ापन **देवदास** के बैलगाड़ी दृश्य से आगे निकल जाता है।" हरदा के कंचन चौबे के अनुसार—"एक्टिंग और भावप्रवणता तो ख़ैर अभिनेता के प्रत्यक्ष गुण हैं ही। पर बड़ी बात है—टाइमिंग और स्पॉन्टनीटी। कैमरे के सामने अशोककुमार बिजली की फूर्ति और फूलों की सी सहजता के साथ अभिनय करते हैं। अगर परफेक्ट टाइमिंग और अभिनयरहित अभिनय को आप विश्व अभिनेता के परिचायक चिह्न मानते हैं, तो लिख लीजिये कि यह अभिनेता यूरोप के किसी महान् अभिनेता की टक्कर का है।" प्रसिद्ध छायाकार प्रफुल्ल नागड़ा ने दावा किया—"दादा मुनि की टक्कर का सहज और भावपूर्ण संवाद बोलने वाला अभिनेता विश्व स्तर पर एकाध ही मिलेगा। बल्कि मैं कहूँ कि वे एक मिसाल हैं। **बहू बेगम** के संवाद सुन लीजिये। साफ़ लगेगा, वे एकदम सपाट बोल रहे हैं। मगर उसके नीचे जज़्बात की तेज़ धार है।" कहानीकार प्रभु जोशी ने लिखा—"कुछ नहीं, सब कुछ और कुछ नहीं। यही अशोककुमार हैं। इसी में जोड़ लीजिये संवेदनशील, सहज अभिनय और व्यक्तित्व की गरिमा। यही विश्व अभिनेता है। अगर नहीं तो आप बतलाइये, विश्व अभिनेता क्या है?" साहित्यकार श्रीमती कृष्णा अग्निहोत्री की शिकायत थी—"अभी विश्व स्तर का अभिनेता बनने में दादा मुनि में कमी है। वे सपाट संवाद बोलते हैं और डार्क स्ट्रीट जैसी फिल्म
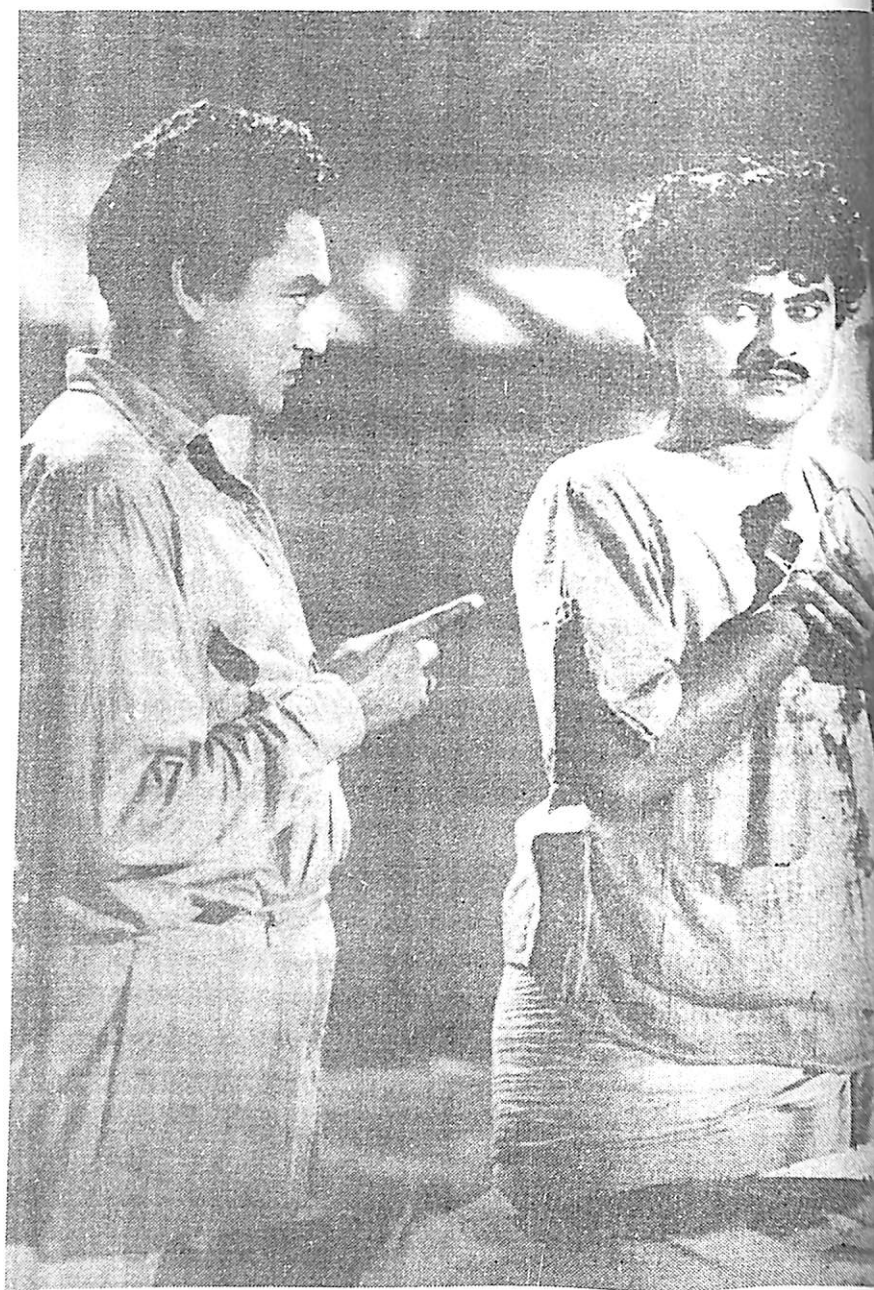
में काम कर लेते हैं।" अशोककुमार के बुजुर्ग प्रशंसक मास्टर गयाप्रसाद योगी ने कहा—"विश्व अभिनेता अपने विश्व स्तरीय किरदार के कारण जाना जाता है। भारत की हज़ारों फिल्मों में मुश्किल से आठ-दस किरदार मिलेंगे, जो हमेशा-हमेशा के लिए पर्दे के बाहर ज़िन्दा रह गये हों। मेरे ख़याल से **मदर इण्डिया** की बूढ़ी माँ, **साहब बीबी और गुलाम** की छोटी बहू, **अमर** का वकील, **बंदिनी** की कल्याणी, **मधुमती** का आनंद, **कानून** का कालिया चोर, और **वक़्त** का राजा, ऐसे ही कुछ और दो-चार चरित्र हैं जो मुझे अब तक याद आते हैं। फिर भी अविस्मरणीय पात्रों की अधिकतम संख्या दादा मुनि के पक्ष में ही है। बतलाइये, 'ऊँचे लोग' के मेजर को भारत का कोई अन्य अभिनेता इस अपील के साथ कर सकता था? इस फिल्म में दादा मुनि और उनका पात्र विश्व सिनेमा में छलाँग लगा जाते हैं। इस लेखक के छोटे भाई उदयनारायण यादव ने लिखा—"**देवदास** के अलावा हमारे सिनेमा में कोई पात्र नहीं है। और दिलीप के अलावा हमारे पास कोई अभिनेता नहीं है। पर जब दादा मुनि का ख़याल आता है, तो मुझे संकोच भी होता है। वे यक़ीनन विश्व स्तर के अभिनेता हैं और दिलीपकुमार से ज्यादा वैविध्यपूर्ण हैं।" यशवन्त व्यास का तर्क था—"विश्व अभिनेता को अवधारणा ही मिथ है। भारत में वह यूरोप के आतंक का दूसरा नाम है किसी अभिनेता को आप उसके अभिनय के आगे और किसी किरदार को आप उस किरदार के आगे कैसे ले जायेंगे? मेरी समझ में **कानून** के नाना पलसीकर भी कालिया चोर की भूमिका में विश्व अभिनेता हैं। फिर राष्ट्र संस्कृति और नेशनल इथॉस का ख्याल भी रखना पड़ेगा। उसके बाहर विश्व अभिनेता खोजना मूर्खता है।" कवि माणिक वर्मा की भी राय थी—"विश्व अभिनेता होना ही नहीं। भारत में अशोक कुमार देश के विश्व-अभिनेता हैं। यूरोप का चक्कर छोड़ो।" बहस ज़ारी है। और ९५ प्रतिशत उत्तर अभिनेता अशोककुमार के विश्व-अभिनेतासंबंधी प्रश्न के पक्ष में आये। मगर सचमुच यह दिलचस्प प्रश्न रह जाता है कि अशोककुमार अगर विश्व स्तर के अभिनेता हैं या नहीं, तो इसे कौन सिद्ध करेगा? लिहाज़ा ज़रूरत पड़ती है—समीक्षकों की बहस की, विकसित फिल्म समीक्षा की और फिल्मी पत्र-पत्रिकाओं में ऐसे स्तंभ की जिसे गंभीर साहित्यकार लिखते हों। इसके बिना यह कैसे तय होगा कि कौन-सा अभिनेता या अभिनेत्री अभिनय कला के जिस सोपान पर खड़ा है? इस दृष्टि से अशोककुमार की फिल्में देख लेना और अशोककुमार के अभिनय की तारीफ़ कर लेना एक बात है, और बाद में रुक-थमकर उनके अभिनय की बारीक़ियों को समझना और उसके लिए माकूल, समीक्षा-भाषा गढ़कर अशोककुमार को विश्वस्तर पर मापना दूसरी बात है। मैं समझता हूँ कि इस तथ्य पर बहस होनी चाहिए कि इस स्तर पर अभिनेता की पहचान क्या है, और अशोककुमार कैसे उस पहचान में फिट होते हैं या नहीं होते

हैं? जहाँ तक मेरे निजी मत का सवाल है, उसे मैं पंचानबे प्रतिशत दूसरों का मानते हुए यह दावा कर सकता हूँ कि अशोककुमार निस्संदेह विश्वस्तर के अभि हैं। और मेरे ऐसा मानने का कारण यह है कि सर्वप्रथम अशोककुमार अभिनय-व्यक्तित्व विराट् है। दूसरे अपनी समस्त भूमिकाओं में वे निजी तौ अनुपस्थित हैं। तीसरे, उनके अभिनय में कहीं भी सायासता नहीं है। चौथे, अभि का महानतम गुण है—अंडरप्लेइंग या प्रच्छन्न, संवेदनशीलता। वह अशोककुमा कूट-कूट कर भरा हुआ है। अंत में, मैं यह भी कहूँगा कि अभिनय में गह सघनता, सहजता और विराटता का *इम्प्रेशन* ही विश्व अभिनेता के *मिथक* का इम्प्रेशन है। हाँ, अविस्मरणीय किरदारों के दम पर किसी अभिनेता के "कॉस्मि व्यक्तित्व को पहचाना जाना है, तो हमें भारतीय फिल्मों के मिजाज़ को देखना और यह पता लगाना होगा कि हमारे यहाँ क्या अविस्मरणीय किरदार गढ़े जाते क्या मनोरंजन की शर्त उन्हें गढ़ने दे सकती है? और क्या आम आदमी उसे सकता है? मुझे लगता है कि दादा मुनि की संभावनाएँ विश्व-स्तर की ही थीं। अलग बात है कि भारतीय सिनेमा किस हद तक उनका उपयोग कर पाया।

अशोककुमार : ऑफ दि स्क्रीन

अशोककुमार एक बहुआयामी व्यक्तित्व हैं। सतत् जिज्ञासा और सतत् प्रयोग उनके स्वभाव का मूल केन्द्र है। उनकी जीवंतता और ऊर्जा का राज़ शायद यह है कि वे कभी अपने को बासी नहीं होने देते। उलट-पुलटकर अपने को इस या उस खंड में बाँट रहते हैं। एक बार वे यह जानने के पीछे पड़ गये कि अब तक उन्होंने जितने संवाद फिल्मों में बोले हैं, उनमें *कॉमन शब्द* कितने हैं। और स्मृति से एक लिस्ट बना डाली। कुल सात सौ शब्द। वे बड़े हैरान हुए, कहने लगे—"बताओ, मैंने नया क्या किया है। ले देकर वही एक जैसे रोल। घुमा फिराकर वही सात-सौ शब्द।" उनका वॉचमैन वर्मा बतला रहा था—"अपनी कोई पुरानी फिल्म लगा देते हैं और हम सबको साथ लेकर देखने बैठ जाते हैं। हम किसी सीन पर ताली बजाते हैं तो कहते हैं—"नहीं, यार, इस सीन को मैं दुबारा करता तो यूँ करता। अभी उसमें कमी है।"इतवार को बिलानागा क्रॉसवर्ड भरते हैं और अपने बच्चों से भी नहीं मिलते। टी.वी. पर बॉक्सिंग-मैच खूब दिलचस्पी से देखते हैं। क्रिकेट का टेस्ट चल रहा हो, तो रात देर तक जागकर उसे देखते हैं।"सबेरा फिल्म के एक हिट सीन की एक पत्रकार ने चर्चा की, तो वे बोले—"बस मुझे इतना याद है कि मैं उसमें साधु बना हूँ। और छिपकर सिगरेट पीता हूँ।"

दादा मुनि चित्रकारी भी करते हैं। यह शौक़ कैसे लगा, उन्हीं के मुँह से सुनिये—"1966 में मैं बीमार पड़ गया था। काफ़ी समय बिस्तर में बिताना पड़ता। बिस्तर में लेटे-लेटे उकता गया था। अभिनेता इफ़्तेखार मेरे बहुत अच्छे दोस्त हैं। उन्होंने मुझसे कहा "आप चित्र क्यों नहीं बनाते?" मैं आसमान से गिरा। मैंने कहा मैं? और चित्र? भले आदमी मैंने तो कभी चित्र बनाये ही नहीं।" इफ़्तेखार पर मेरी हैरानी और परेशानी का कोई असर नहीं पड़ा। वह बाज़ार गए और चित्रकारी का सारा सामान ले आये। बोले—"लो, कुछ नहीं करना है। बस, जो मन मे आये, बनाते जाइये और रँगते जाइए। मैंने चुपचाप दोस्त के आग्रह को स्वीकार कर लिया।"

दादा मुनि फिर चित्र बनाने लगे, और इस शौक में ऐसे रंग गये कि चित्रकारी उन पर जुनून की तरह सवार हो गयी। उन्होंने कई चित्र बनाये और 55 वर्ष की उम्र के बाद ज़ारी किये गये इस शौक़ में महारत हासिल करके रहे। चित्रकारी के शौक़ ने आगे चलकर कौन सा गुल खिलाया, इसका एक मज़ेदार वाकया सुनिये।

बंगलौर के एक कॉलेज ने उनके चित्रों की प्रदर्शनी आयोजित की। लोगों को उनके चित्र बहुत पसद आये। आयोजकों का हौसला और बढ़ा। उन्होंने दादा मुनि से मिलकर प्रार्थना की कि वह कॉलेज में आकर अपनी इस कला का नमूना दिखाएँ।

इफ़्तेखार ने ही दादा मुनि को शतरंज खेलना भी सिखाया। वे खेल के पीछे ऐसे हाथ धोकर पड़े कि जल्द ही बारीक़ी के साथ ऊँचे दर्ज़े का खेल खेलने लगे। उन दिनों शतरंज खेलने के मामले में अभिनेता रहमान का लोहा माना जाता था। पर दादा मुनि ने उन्हें भी हरा दिया। इसी शतरंज से संबंधित एक और घटना हुई।

"एक बार मैं रूस जा रहा था। बीच रास्ते में प्राग के हवाई अड्डे पर काफी देर तक रुकना पड़ा। जहाज़ में ही एक विदेशी महिला से थोड़ी बहुत पहचान हो गयी थी। सो, उसने वक़्त काटने के लिहाज़ से मुझे शतरंज खेलने के लिए आमंत्रित किया। मैं फ़ौरन तैयार हो गया। मुझे अपने *कैलकुलेशन* और चौफेरी सजगता पर बड़ा भरोसा था। पर कुछ ऐसा रहा कि मैं पहली बाज़ी हार गया। मैंने अपनी झेंप छिपाने की गरज से कहा—माफ कीजिए। मेरा ध्यान जरा बँट गया था। चलिये, एक बाज़ी और हो जाए। वह बोली—"एज यू विश" और हम खेलने लगे। इस बार मैं बड़ी मुस्तैदी से खेला। पर यह क्यों? दूसरी बाज़ी भी हार गया। आगे भी हारता गया। मैं परेशान कि यह क्या हो रहा है। मगर बहुत जल्द ही मेरी हार का राज़ खुल गया। वह महिला बोली—आप बाट विटन को जानते हैं? मैंने लापरवाही से कहा—"हाँ, इस समय वे शतरंज के विश्व-चैंपियन हैं।" "तब आपको एक बात और जान लेनी चाहिए," वह महिला बोली, "मैं उनकी पत्नी हूँ। ऐसा कई बार हुआ है। लोग मेरे साथ शतरंज खेलते हैं और हार जाते हैं। दरअसल अपने पति को अभ्यास कराने के लिए मुझे उनके साथ खेलना पड़ता है और कई बार वे भी मुझसे हार जाते हैं।" दादा मुनि का चेहरा देखने लायक़ था।

इसी तरह वे कॉलेज में थे, तो क्रिकेट के पीछे पागल थे और कप्तान तक बन गए थे, छोटा भाई किशोर—जिसकी जेहनियत की वे बहुत तारीफ़ करते हैं—इस हद तक सनकी या उर्वर था कि अपने बग़ीचे के वृक्षों से बात करता था। हर वृक्ष को उसने नाम तक दे रखा था। एक वक्त था। दादा मुनि पर शिकार का शौक़ हावी हो गया इस शौक़ का विचित्र तथा प्रशंसनीय पहलू यह था कि वे शिकार को मारने के लिए नहीं, बल्कि उसे क़रीब से देखने के लिए जाते थे। क़रीब-क़रीब सभी विषयों पर ढूँढ़-ढूँढ़कर कितावें पढ़ने का उनका पुराना शौक़ है। अभिनय-कला और फिल्म निर्देशन पर उन्होंने अब तब उपलब्ध सारे दुर्लभ क्लैसिक्स पढ़ रखे हैं।

बहुत कम लोगों को यह मालूम होगा कि किसी जमाने में उन्हें सिद्ध पुरुषों से मिलने का बड़ा शौक़ था। वे जानना चाहते थे सिद्धि की असलियत क्या है। वे कहते हैं—"इस क्षेत्र में मेरा अनुभव यह रहा कि सब झूठा प्रचार है। उल्टे विज्ञान

में मेरी आस्था गहरी हुई। मैंने यह महसूस किया कि जब सब तरफ़ से घूम-फिर कर हम रोज़मर्रा की सचाइयों पर लौट आते हैं, तो क्यों न इसी जीवन को, अपने आस-पास के समाज को बेहतर बनायें, ख़ुशी बाँटें, दुख बँटायें।" मगर दूसरी तरफ़ एस्ट्रोलॉजी यानि नक्षत्र ज्योतिष में उनकी आस्था गहरी है। पूरे दस साल तक किसी जिज्ञासु छात्र की तरह अध्ययन किया उसका। बताते हैं—"संस्कृत का ज्ञान गहरा किया। पुराने दुर्लभ ग्रंथ बाँचे। ज्योतिष के प्रकांड विद्वानों से मिला। मैं अब मानता हूँ कि ज्योतिष एक विज्ञान है।" उनका तर्क है कि पूरा संसार क्योंकि मैग्नेटिक है, इसलिए नक्षत्रों का असर शरीर और मन पर पड़ता है अगर गर्भाधान के वक़्त नक्षत्रों की स्थिति इससे उस हो जाए, तो किसी भी आदमी का जीवन कुछ और हो जाये।" उन्हें होमियोपैथी का शौक़ भी है। उनके इस शौक़ को सब जानते हैं। उन्होंने मीना कुमारी का इलाज किया था। पर उसने परहेज़ करना बंद कर दिया, तो इलाज़ छोड़ दिया था। एक क़िस्सा मनोज कुमार का है। वे उदर रोग से पीड़ित था। ऑपरेशन की नौबत आ गयी थी। वे इसके लिए लंदन जाने की तैयारी कर रहे थे कि मद्रास के एक निर्माता ने कहा—"दादा मुनि को दिखा लो। निश्चित ही अच्छे हो जाओगे।" होमियोपैथ अशोक ने कुछ दवाओं और पथ्य द्वारा उसका इलाज़ किया और वह बग़ैर ऑपरेशन के ठीक हो गया

इस तरह, ये छोटी-मोटी बातें हैं अभिनेता के जीवन की। इनमें से उसकी अभिनय कला और जाती ज़िंदगी के बीच कोई *लिंक* बाँधी जा सकती है तो यही कि अशोककुमार की जिज्ञासा-वृत्ति, सतत् प्रयोगधर्मिता, जीवन के वैविध्य से लगाव, और विषय का सूक्ष्म अणुवीक्षण करने की आदत ..... उन्हें चरित्र-चित्रण पर गहरा *होमवर्क* करने का गुण देती है, जिसका प्रशंसनीय नतीज़ा हम परदे पर देखते आये हैं।

साँझ के झुटपुटे में गुज़री दोपहर पर नज़र

दादा मुनि बूढ़े हो चुके हैं। अपनी गुज़री ज़िंदगी के बारे में क्या सोचते हैं, यह सवाल उठना स्वाभाविक है। यह सवाल उनके दर्शकों में भी उठ सकता है। इस सिलसिले में एक सीन

संदर्भ : 14 अक्तूबर, 1990, फ्री प्रेस जर्नल (बंबई संस्करण)

इंटरव्यूकार : शोभा चटर्जी।

प्रसंग : अभिनेता अशोककुमार का 80 वाँ जन्म दिवस।

प्रश्न : क्या आप अकेलापन महसूस करते हैं?

दादा मुनि जवाब देते हैं—"नहीं, नहीं, अकेलापन क्यों महसूस करना चाहिए? मैं अपने को अपने शौक़ में व्यस्त रखता हूँ। मेरी होमियोपैथिक प्रैक्टिस को लो। जब शूटिंग पर नहीं होता तो मेरे पास बीमार आते हैं। उनका इलाज़ करता हूँ। मेरे बच्चे भी मुझे देखने आ जाते हैं। उनके साथ कुछ वक़्त गुज़र जाता है।"

अपने विशाल बंगले में नौकरों और भयावह, पालतू कुत्तों के साथ रहता हुआ, यह

अकेला इंसान बतलाता है—"मैं अपने बाल नहीं रंगता। निर्वस्त्र होकर तस्वीर बनाता हूँ। कई किताबें यहाँ तक पढ़ता हूँ कि वे याद हो जाएँ।" माता-पिता की चर्चा निकाली तो कहने लगे—"मैंने मेहनत से काम किया। घर-द्वार बनाया। बुढ़ापे में पिता जी को यहीं ले आया। उनकी सेवा की। यहीं बंबई में उनका देहावसान हुआ। सोचता हूँ, परिवार के प्रति मेरा जो फर्ज़ था, क्या उसे पूरा किया? नहीं, नहीं, सब खुश हैं मुझसे। बस कभी-कभी किशोर की याद, बींध जाती है। ही वाज व्हेरी ..... व्हेरी इंटेलीजेंट। ... बहुत छोटा था मुझसे।" (लेखक से बातचीत का अंश)

'फ्री प्रेस जर्नल' की उसी पत्रकार को बता रहे थे वो—"मैं समझता हूँ, मैंने भारतीय हिंदी सिनेमा को एक ही प्रमुख योगदान दिया है। वह है—यथार्थवाद का। और यह था, उस नाटकीयता, कृत्रिमता और परंपरावादिता के ख़िलाफ़, जो मैंने अपने बचपन के पारसी नाटकों में देखी थी। मुझे तब यह तो नहीं मालूम था कि मैं आगे चलकर एक्टर बनूँगा। पर हर क़िस्म के मैनरिज़्म, स्टाइलवाद और अतिरंजना को उखाड़ फेंकने के बीज मेरे मन में तभी पड़ गये थे। बाद में जब मैं अभिनेता बना, तो मैंने वही रोज़मर्रा का सहज यथार्थवाद अपनाया। शुरू में किसी ने इस ख़ामोश सी, छोटी, किंतु महत्त्वपूर्ण क्रांति पर ध्यान नहीं दिया पर धीरे-धीरे और निश्चित तौर पर फिल्म वालों को मेरा तरीक़ा पसंद आने लगा, जो असल में कोई

तरीक़ा ही नहीं था। कैमरे के सामने मैं ठीक वैसा ही व्यवहार करता था, जैसा रोज़ घर पर या मिलने-जुलने वालों से करता था।"

"अब मैं काम करना पसंद नहीं करता। क्या करूँ? कौन-सा रोल मैंने नहीं किया? 55 सालों में, और 250 से अधिक फ़िल्मों में मैं कमोवेश वँधे-वँधाये शब्द बोलता रहा हूँ। बस 700 शब्द। मेरी फिल्मी वकेब्यूलरी बस इन्हीं सात सौ शब्दों की है।"

"पैसा? हाँ, जानता हूँ तुम इसलिए पूछ रही हो कि फिल्म स्टार के लिए पैसा पहली पसंद होता है। मगर मैं वहुत पैसा कमा चुका हूँ। उल्टे, जब पटलकर देखता हूँ तो लगता है कि पैसा उस प्यार और आदर को नहीं तौल सकता जो मुझे अपने देश में और अपने देश के बाहर हासिल हुए हैं। चाहे केंद्रीय मंत्रालय हो, या विदेशों के भारतीय दूतावास, या अमेरिका और रूस के अस्पताल। चाहे काग़ज़ बटोरने वाला मुफ़लिस हो, या उत्तरप्रदेश से ख़त लिखने वाली कोई नन्हीं छोकरी... मुझे इन सबसे इतना प्यार और तवज्जो मिला है कि... अब किसी कमी की शिकायत करते मुझे संकोच होता है, मैं... बहुत ... बहुत संतुष्ट हूँ।"

"और, दादा मुनि, एक्टिंग के बारे में आपका क्या ख्याल है?"

"पिछले 55 वर्षों से एक ही ख़याल है कि अभिनय एक खूबसूरत कला है। इसमें महज़ एक भाव या विचार को अनंत तरीक़ों से दर्शाया जा सकता है और इसमें कौन सा एक तरीक़ा मौजूदा संदर्भ में सटीक और असरकारी होगा, इसे खोजने, अंजाम देने और उसमें सफल हो जाने का अपना आनंद होता है।"

"सीखना कभी ख़त्म नहीं होता। आई एम स्टिल ए स्टुडेंट ऑफ एक्टिंग यू मुझे बहुत से अवार्ड मिले हैं। पर इससे मुझ पर कोई असर नहीं पड़ता। कारण, अवार्ड्स के लिए मैंने कभी कोशिश नहीं की। वे अपने आप चलकर आये।"

इंटरव्यूकार आगे पूछती है—"जब आपके पास किसी रोल को करने का प्रस्ताव आया, तो आपने उसे किस आधार पर पसंद या नापसंद किया?"

दादा मुनि का जवाब है—"मैंने हमेशा रोल को स्वीकार किया है, चाहे वह जैसा हो। आगे, उसे कैसे करना था, इस पर बाद में विचार किया। दरअसल हर रोल मेरे लिए समस्या रहा, मगर मैंने उसे किया। चुनना, छाँटना, खँगालना—यह सब मैंने कभी नहीं किया। हाँ, निर्देशक की समझाइश और निर्देश को ही मैं सब कुछ मानकर चलता रहा। कभी किसी रोल के बारे में मेरी व्याख्या अलग रही, तो निर्देशक से उस बाबत बात कर लेता था। मगर निर्देशक असहमत रहा और मैं सही, तो भी मैं उसके कंसेप्ट के अनुसार ही रोल करता था।" "राजनीति के बारे में आपकी राय?"

"मेरे विचार में अभिनेता को राजनीति से दूर रहना चाहिए। इस अर्थ में नहीं कि वह राजनीति को छूत की बीमारी समझे, बल्कि इस अर्थ में कि किसी को तबला बजाने पर ध्यान देना और महारत हासिल करनी है, तो वह दर्ज़ी का काम क्यों करने लगे?"
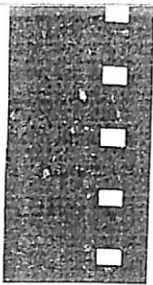
कैमरे के सामने अशोककुमार

दादा मुनि की तारीफ़ में एक जुमला हर कोई दुहराता है। उनके अभिनय में स्वाभाविकता है। मैं कहना चाहता हूँ कि वे स्वाभाविक भी नहीं हैं। बल्कि उसके आगे, अपने आसपास से एकाकार हैं। उनका कोई व्यक्तित्व नहीं है। उनके आगे कोई कैमरा नहीं है। वे अभिनय भी नहीं करते। बल्कि होते हैं। वैसे ही होते हैं, जैसे हम घर में, बाज़ार में, सड़क पर और अपने परिवार के साथ होते हैं। हमें यह भी याद नहीं रहता कि हम व्यवहार कर रहे हैं। हममें और अशोककुमार में यही समानता है कि दोनों के बीच कैमरा नहीं है। पर यही हममें और अशोक कुमार के बीच फ़र्क भी है। फर्ज़ कीजिये कि हमारे स्वाभाविक व्यवहार को कैमरा क़ैद करने लगे तो हम स्वाभाविक नहीं रहेंगे, जबकि कैमरा अशोककुमार और प्रकृति के बीच के तादात्म्य को नहीं तोड़ पायेगा।

यही कारण है कि जब पत्रकार उनसे पूछते हैं कि आपके अभिनय का क्या राज है, वे परेशान होते हैं। वे जो जवाब देते हैं, वह भी बेहूदा और अविश्वसनीय लगता है, जैसे वे पत्रकार को टाल रहे हैं। वे कहते हैं—मुझे भी नहीं मालूम, मैं कैसे अभिनय करता हूँ। बस, कैमरे के सामने सब हो जाता है। दरअसल यह बेहद जटिल जवाब है। क्योंकि जितनी सीमा में आप कृत्रिम हैं, आप प्रभावशाली जवाब दे सकते हैं। मगर जब आप जीवन से एकाकार हैं, तो जवाब कैसे दे सकते हैं? यह तो ऐसा है, जैसे आप मछली से पूछे कि तू पानी में कैसे तैरती है। भारतीय दर्शन में इसीलिए समाधि, अद्वैतावस्था या तादात्म्य स्थिति की ओर से जवाब नहीं है। संतुलन कुछ नहीं कहता। वह निष्क्रिय सक्रियता है।

तो अशोकजी मिट गये हैं। यह तभी संभव हो सकता है, जब आदमी बालक हो जाये, या जीवन से एकाकार होकर अपना अहंकार खो दे। मैं रहस्यवादी नहीं हूँ। पर दादा मुनि के बारे में बार-बार मानने का मन करता है कि वे जैसे पूर्व जन्मों के संत हैं और अपनी जीवन यात्राओं में धीरे-धीरे सारा अहंकार गलाकर सहज अवस्था में आये हैं। इसे मानना शायद दादा मुनि के लिए भी मुश्किल हो। क्योंकि वे तो विज्ञान के जमाने के आधुनिक इंसान हैं और वैज्ञानिक तबियत के पढ़े लिखे अंग्रेज़ी दाँ हैं। पर संत का मतलब, वेशभूषा और तिलक कंठी नहीं होता है। वह तो अहंकार गल जाने के बाद की सरल अवस्था है। अतः दादा मुनि भले ही परंपरागत अर्थ में साधु-सन्यासी न हों। पर वे परिणमित आधे संत ज़रूर हैं। आप कहेंगे कि संत मांसाहारी नहीं होता, पर दादा मुनि हैं। संत शादी नहीं करता, पर दादा मुनि नारी का स्पर्श कर चुके हैं। संत अंगरेज़ी नहीं बोलता, पर दादा
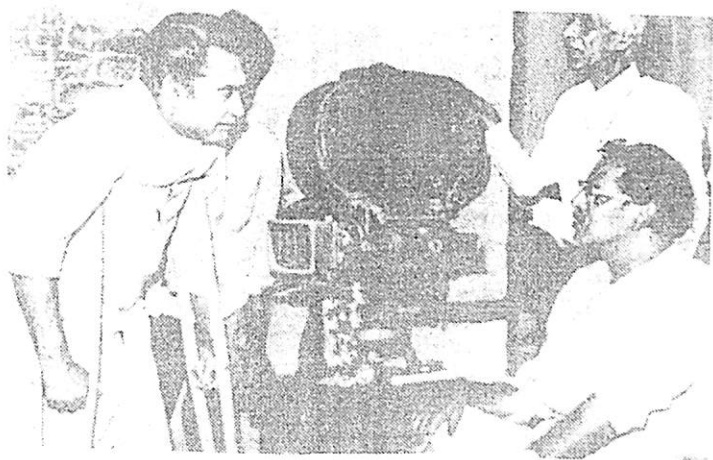
मुनि अंगरेज़ी में बात करते हैं। जी नहीं, धर्म स्वाभाविकता है और इसी मायने में दादा मुनि, संसारी होकर भी संत हैं। यह आधुनिक आध्यात्म्य जब कैमरे के सामने आता है, तो हम परदे पर एक सिनेमाई जे. कृष्णमूर्ति देखते हैं। कहने का मतलब यह कि दादा मुनि भले ही एग्नोस्टिक हों। पर कैमरा उनके सामने है, तो वे टेक्नीकल ''ओशो'' हैं। यह सहजता बिरली कमाई है।

हिन्दुस्तानी सिनेमा में स्वाभाविक अभिनय कई अभिनेताओं ने किया है। के.एल. सहगल, कन्हैयालाल, मोतीलाल, बलराज साहनी और हमारे दौर में संजीव कुमार, जयाभादुड़ी और दीप्ति नवल का नाम लिया जा सकता है। मगर इनके पास न बड़ा कैनवास है और न बड़ा रेंज है। इनके पास वैविध्य और सूक्ष्मता भी नहीं है। अशोक की एक खूबी है। सतह के नीचे बर्फ़ या आग की रेखा खींच देना और सतह पर सामान्य बने रहना। मगर यह अंतिम गुण इन सारे अभिनेताओं में अनुपस्थित है। जहाँ तक अन्तर्द्वन्द्व का सवाल है, के.एल. सहगल उसे स्वाभाविकता से चित्रित कर देते हैं। मगर उनके अभिनय में खंडित या भग्न व्यक्ति की निषेधवादी पीड़ा है। वह ड्रामें में ठीक है। पर जीवन में कोई प्रेरणा नहीं देती। बल्कि एक युग तक नवजवानों को देवदासी भावुकता दे जाती है। मगर अशोककुमार का अन्तर्द्वन्द्व एक सकारात्मक इंसान का स्वाभाविक दर्द है। दूसरे शब्दों में अशोक कुमार एक संवेदनशील अन्तर्द्वन्द्व प्रधान नायक हैं। उनके यहां ट्रेजेडी ज़रा नहीं है। यह अच्छी बात है। क्योंकि सामान्य जीवन संवेदनशीलता और जड़ता के बीच चलता है। उसमें परपीड़न या आत्मपीड़न की *मारबिड* विकृति नहीं होनी चाहिए। तो अशोककुमार का अभिनय स्वास्थ्य और स्वाभाविकता से रेखांकित होता है। उसमें प्रतिभा और रेंज का समावेश होने से वैविध्य भी प्रगट होता है। इन सारे गुणों को जोड़ दिया जाये, तो वे भारतीय सिनेमा तो क्या, विश्व सिनेमा के अपवाद-पुरुष हो जाते हैं। मैंने महान् अभिनेताओं की यूरोपीय फिल्में देखी हैं। वहाँ भव्यता, विराटता और स्वाभाविकता है। पर एक भी विश्व अभिनेता में (चार्ली चैपलिन को

छोड़कर) वह सहजता और जन्मजात शालीनता नज़र नहीं आयी, जो दादा मुनि की मुस्कराहट को शामिल करते हुये इस भारतीय अभिनेता के टोटल प्रभाव से टक्कर ले सके। इसी के साथ, हमें दोनों संस्कृतियों के अभिनेताओं, दर्शकों और जीवन दृष्टि को अलग करके देखना होगा। यूरोप में ग्रेंजर पर ज़ोर है, जबकि आर्य-संस्कृति के भारत में त्याग, वैराग्य, शालीनता और विनम्रता पर जोर है। अशोक के अभिनय में यह खुशबू मिलती है। पाल मुनि, ओमर शरीफ, रिचर्ड बर्टन, रेक्स हैरिसन और लारेंस आलिवर—विराटता और इन्टेन्सिटी के बावजूद......

महान् आर्य-संस्कृति की पाव सुगंध नहीं दे पाते। अतः अशोक कुमार भारत में रहकर उतने ही बड़े विश्व-अभिनेता हैं, जितना भारत, अपनी विराटता के साथ, यूरोपीय संस्कृति से टक्कर लेता हुआ....... अपनी वैदिक पावनता और जाज्वल्यवान आशावाद के साथ एक क़दम आगे है। **ऊँचे लोग** का अकेला मेजर चंद्रकांत भोगवादी यूरोप पर भारी है।

☐

☒ रमेश चंद्र सुगंधी

एकोऽहं बहुस्यामि

ईश्वर और कलाकार में, अनेक असमानताओं के बावजूद, एक मुख्य समानता है। दोनों ही पृष्ठभूमि में रहकर अपने में से अनेक रूप प्रगट करते हैं। दोनों ही अनेक किस्मों से आत्माभिव्यक्ति करके स्वयं उनमें तटस्थ होते हैं। अशोक कुमार ने ही कभी कहा था—"अभिनय को व्यक्तित्व के प्रदूषण से बचना चाहिए।" इसका प्रमाण उन्होंने अपनी तमाम फिल्मों में दिया है। बस ऐसा लगता है, जैसे अशोककुमार छुट्टी पर चले गये हैं और उनकी जगह पात्र ही भूमिका कर रहा है।

चिंतन का विषय है कि अभिनय में यह कैसे संभव होता है? मैं सिर्फ अंदाज़ लगा सकता हूँ। सही जवाब तो दादा मुनि ही दे सकते हैं। मेरा ख़याल है कि अपने व्यक्तित्व को *अरेस्ट* करके शून्य शख्सियत से अभिनय करना तभी संभव होता है, जब अभिनेता स्वयं आडंबर रहित हो, लोगों का बारीक़ी से निरीक्षण करता हो, और इतना भाव-प्रवण हो कि जैसे ही पात्र उसकी कल्पना में उभरता हो, उसका दुःख दर्द उसके चेहरे पर आ जाता हो। मैं समझता हूँ, जीवंत अभिनय में दो चीज़ें काम करती हैं। तात्कालिक सूझ और विशाल स्मृति-कोष से उपजी पात्रों की भाव-भंगिमाएँ। इस प्रतिभा और निरीक्षण-क्षमता के बिना चोटी का अभिनेता होना असंभव है। लिहाज़ा-ऐसा मानना मुमकिन है कि दादा मुनि के पास जहाँ लचीलापन और प्रतिभा है, वहीं उनकी निरीक्षण क्षमता भी गज़ब की है। मगर ये गुण तो अमिताभ बच्चन में भी हैं। फिर दादा मुनि अपनी भूमिकाओं में इतने स्वाभाविक और सहज कैसे नज़र आते हैं? इसका एक ही जवाब है। अपने निजी जीवन में वे तड़क-भड़क और आडंबर से दूर हैं। भले ही किसी फिल्म में वे राजा, नवाब और अंगरेजीदाँ अफसर नज़र आएँ, मगर उन कास्ट्यूम भूमिकाओं में भी वे बाहरी औपचारिकता और अहंकारपूर्ण दिखावे से परे हैं। वे पाखंडी भी बने हैं, तो यह पाखंड उनके पात्र का है। इसी मायने में उनका पात्र भड़कीले कपड़े पहनता है, तो यह भड़कीलेपन की स्वाभाविकता है और दादा मुनि को सादगी तथा आडंबर से कोई लेना देना नहीं है। व्यक्तित्व की यह निरासक्त बहुधर्मिता... संभवतः यथार्थवादी दृष्टिकोण और स्वभावगत सादगी से आती है। राजकपूर और दिलीपकुमार में क्योंकि इस विराट् जीवन दृष्टि का अभाव है, इसीलिए, उतनी मात्रा में उनका अभिनय भी दादा मुनि के अभिनय की तुलना में, कृत्रिम और सायासपूर्ण है। मैं मानाता हूँ कि दादा मुनि आला दर्ज़े के अनौपचारिक इंसान है, इसीलिए वे पानी की तरह सहज महान् अभिनेता भी हैं।

मैं जब भी दादा मुनि का अभिनय देखता हूँ, मुझे जापान का जेन संप्रदाय याद आता है। इस कल्ट में ईश्वर-प्राप्ति को सहजता की प्राप्ति बतलाया गया है। इस नाते जेन-कल्ट की तमाम साधनाएँ किसी परंपरागत तपस्या से न जुड़कर रोज़मर्रा के

सांसारिक व्यापारों को दैनिक सहजता के बीच करने से जुड़ी हुई हैं। एक रहस्य-कथा है। शिष्य ने आकर गुरु से पूछा—"बुद्धत्व को कैसे प्राप्त करें?" गुरु ने कहा—"तुमने अभी भोजन किया है। इसलिए, जाओ, अपना बर्तन धोओ।" सुनने में यह कथा विचित्र लगती है। पर इसका भाव यही है कि सहजावस्था या मुक्तावस्था कोई अलौकिक उपलब्धि नहीं है। दादा मुनि के सहज अभिनय को देखकर भी यही लगता है।

एक और जेन-कथा याद आती है। दो शिष्य, बात कर रहे थे।

पहला : हमारे गुरु इतने सिद्ध हैं कि नदी के इस पार खड़े हो जाते हैं और हवा में ब्रश चलाते हैं तो दूसरे पार कैनवास पर तस्वीर उभर आती है। तुम्हारे गुरु के पास कौन सी सिद्धी है?

दूसरा : उससे भी बड़ी।

पहला : वह क्या?

दूसरा : हमारे गुरु को जब भूख लगती है, खाना खा लेते हैं और जब नींद आती है सो जाते हैं।

मुझे नहीं मालूम, इस पर पहले शिष्य ने कौन-सी काट पेश की! पर मैं इतना जानता हूँ कि इस बोध-कथा में गहरा रहस्य है। दूसरा शिष्य कह रहा है कि उसके गुरु अखिल सृष्टि से एकाकार हो गये हैं। उनके पास काल और उसका विभाजन नहीं बचा।

मैं दादा मुनि के अभिनय में यही तनावरहित सहजता देखता हूँ। ऐसा कलाकार में और उसके अभिनय में तभी संभव होता है, जब वह तमाम औपचारिकताओं को झटक कर बालक की तरह प्रौढ़ हो गया हो। मैं अशोककुमार के अभिनय का राज उनके उन्मुक्त ठहाकों में देखता हूँ। आप सहमत होंगे कि खुलकर हँसना बहुत मुश्किल से आता है।

अशोककुमार एक हैं। पर पात्रों के रूप में वे अनेक हैं। इन सब में असल अशोककुमार के नज़दीक कौन है, हम नहीं जानते। किसी को वे वकील के रूप में असल मालूम पड़ते हैं। कोई उन्हें सी.आई.डी. या इंस्पेक्टर की भूमिका में सबसे सटीक पाता है। कोई मानता है कि वे शिष्ट, शालीन और समझदार प्रेमी के रूप में सबसे अधिक उपयुक्त हैं। मगर सचाई यह है कि व्यक्ति अशोककुमार ही जब वक़्त के साथ बदलता रहता है, तो किसी काल की ख़ास भूमिका में उसे महदूद करके क्यों देखा जाये। सन् 36 के युवा अशोककुमार, सन् 50 के प्रौढ़ अशोक कुमार और सन् 80 के वृद्ध अशोककुमार अपने रोलों में अपनी जगह सही हैं।

असल अशोककुमार एक आशावादी इंसान है, जो जीवन को सकारात्मक ढंग से लेना और जीना सिखाता है। उसके मन में किसी के लिए नफ़रत नहीं है। वह अपनी तीक्ष्ण बुद्धि से जानता है कि आदमी कुल मिलाकर मज़बूर और नादान है। इस मानसिक ऊँचाई पर लोग धर्म या आध्यात्मिकता के द्वारा पहुँचते हैं, किंतु विवेकशील और विश्लेषणशील अशोककुमार यहाँ महज़ ज़िंदगी और आदमी को

समझकर पहुँचा है।

अशोककुमार ने अभिनय के मानदंड स्थापित किये हैं। उनका पहला मानदंड यही है कि अभिनय इस तरह करो कि अभिनय नज़र न आये। दूसरे, अतिरंजना और फिजूलखर्ची से बचो। तीसरे, बिना उत्तेजित हुए अपना तनाव व्यक्त करो, और कम से कम शब्दों तथा हाव-भाव में, अपना मंतव्य व्यक्त करो। वे कृत्रिमता और उत्तेजना के ख़िलाफ हैं, क्योंकि जीवन में अधिकतर लोग अपना सुख-दुःख बग़ैर नगाड़ा पीटे ही व्यक्त करते हैं। अशोक के अभिनय की एक और खूबी है। वे टुकडो़ं में विश्वास नहीं करते, बल्कि चरित्र के समग्र प्रभाव को अभिनय का गुर मानकर चलते हैं। उनकी कोई भी फिल्म देख लीजिये। वे कहीं विशिष्ट नज़र नहीं आते। पर संपूर्ण फिल्म पर उनका प्रभाव छाया रहता है। इस तरह का असर किसी जमाने में चंद्रमोहन, पृथ्वीराज कपूर और सोहराब मोदी पैदा करते थे। पर उस प्रभाव में कहीं अहंकार और तानाशाही की गंध आती थी। अशोक की विराटता का प्रभाव एक मोहक और प्रीतिकर सुंगध लिये होता है। मैंने किसी फिल्म में उन्हें बच्चों को डाँटते या मारते नहीं देखा। मेरे लिए यह बहुत बड़ी बात है।

❑ श्रीराम परिहार
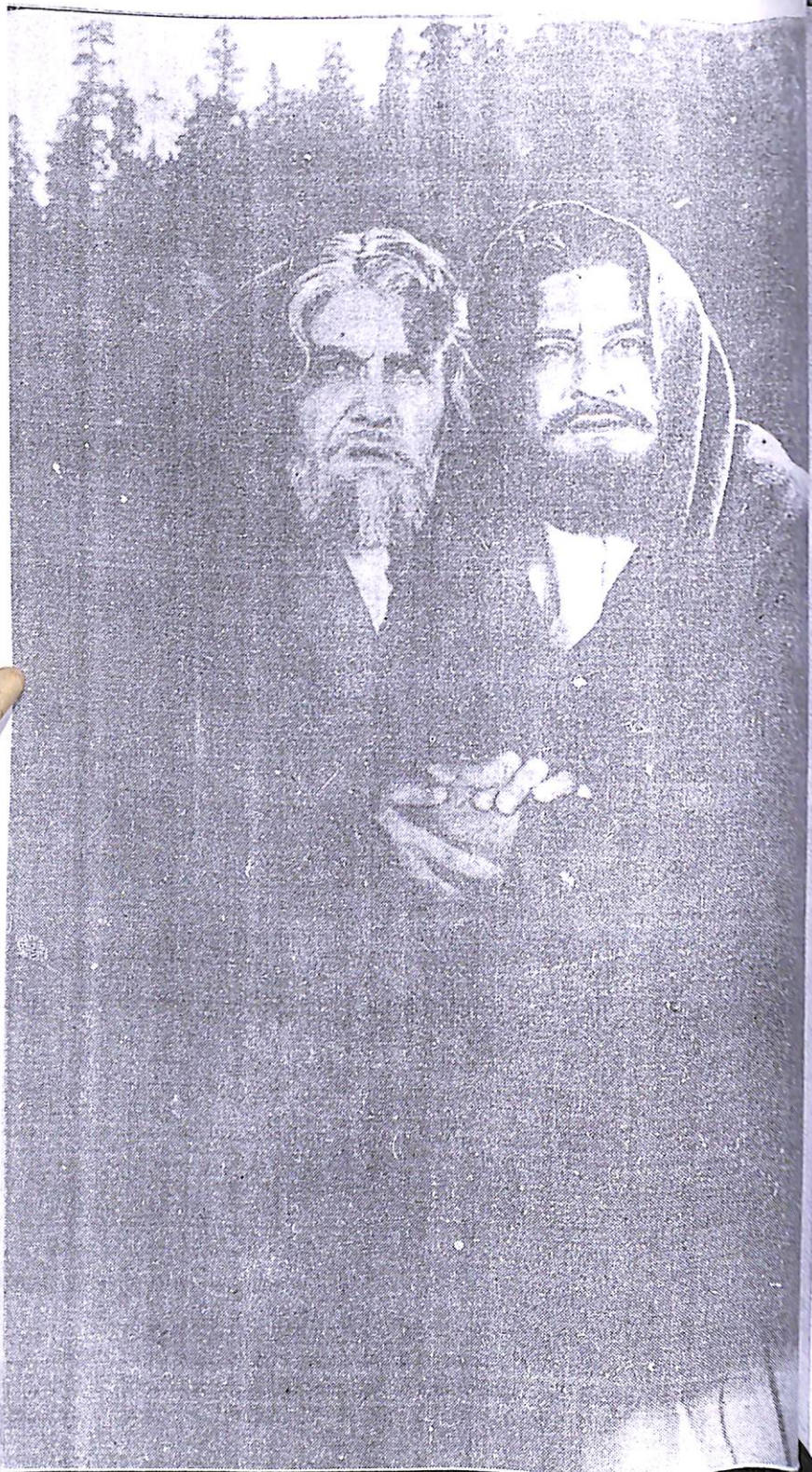
सवाल उदाहरण
जवाब उस्ताद, सरदार, शतरंज, **भाई-भाई, कंगन, बंदिश**, एक ही रास्ता, परिणीता और बाद की गुमराह जैसी कोई भी फिल्म देख लीजिए। **उस्ताद** में वे अपने ही पिता और **पुत्र** बने हैं। इसी थीम को बाद में **कर्मयोगी** में दुहराया गया और अशोक के दोनों रोलों को राजकुमार ने किया। पर राजकुमार जहाँ लाउड हैं, वहाँ अशोक बारीक और मुतं हुए हैं। **कर्मयोगी** में राजकुमार का निजी अहंकार भी किरदार में *लॉक* होता है। पर **उस्ताद** में सुशील, सज्जन दादा मुनि अपराधी बने हैं, तो उनकी निजी शख्सियत एकदम छिप जाती है। और वे अभिनय, भाव-भंगिमा, और आवाज़ की सख्ती से काम चला लेते है जिन्हें उन्होंने किरदार के लिए ईजाद किया। उस्तादों के उस्ताद में देखिये। आख़िरी सीन में बोट पहाड़ी से टकराने जा रही है, और वे आराम से सिगरेट निकालते हैं। इसी समय विस्फोट होता है और बोट के साथ वे नष्ट हो जाते है। एक दबंग अपराधी के मरने का यह आला अंदाज़ बदन में रोंगटे खड़े कर देता है। अशोक के इस रोल को मैं आज तक नहीं भूला।

सवाल : आप **धर्मपुत्र** में उनके गेस्ट-रोल का ज़िक्र कर रहे हैं?

जवाब : हाँ, बहुत छोटा रोल है उसमें। एक मौलवी का। ज़रा चाल पर गौर कीजिये। किरदार की हताशा और टूटन को ज़ाहिर कर देती है। फिल्म में अपने लड़के की मौत पर उन्होंने जो सुनियंत्रित और तीखे रियेक्शन्स दिये हैं, वह जन्मजात ग्रेट एक्टर ही कर सकता है।

सवाल : आपको कौन सी फिल्में ज़्यादा पसंद हैं?

जवाब : वही दो, जिनको उनके अभिनय के लिहाज़ से एकदम फ्लॉप माना गया है।

सवाल : कौन-सी?

जवाब : **मेरी सूरत तेरी आंखें** और **चित्रलेखा**।

सवाल : इनमें क्या बात थी?

जवाब : निर्भर करता है कि आप किस धारणा को लेकर फिल्म देख रहे हैं। जिन लोगों को अशोक इनमें पसंद नहीं आये, वे पहले यह समझें कि अशोककुमार की अब तक की छवि को मन में रखकर वे ये फिल्मों को देख रहे हैं। देखना है, तो सिर्फ़ यह देखें कि किरदार को अशोककुमार अभिनेता ने कितना समझा है और फिर उसे अंजाम देने के लिए सिनेमा के भीतर कौन से साधन चुनें हैं। **मेरी सूरत तेरी आंखे** का रोल उस वक़्त अच्छे-अच्छे अभिनेताओं ने नामंज़ूर कर दिया था। यह उनकी कॉमर्शियल इमेज़ के पिटने का सवाल था। पर अशोक ने सच्चे कलाकार के नाते उसे "मंज़ूर किया और एक हीनता से ग्रस्त" लाचार किरदार की भूमिका को पहले ही शॉट में, जहाँ वे दर्शकों के सामने परदे पर आते हैं, उनका चेहरा उड़ा-उड़ा है और वे तानपूरे को सख्ती से चिपकाकर चलते हैं, साकार कर दिया। आशा पारीख के सामने वे सहज नहीं हैं। पर यहाँ उन्होंने अभिनय से

काम लेने के बज़ाय सिर्फ़ किरदार के दर्द को महसूसा है, और इसका असर उनकी आँखों, थरथराते नथुनों और आवाज में उभरा है। यह सब लाऊड अभिनय देखने वाला दर्शक मिस कर जाता है। **चित्रलेखा** को लीजिये। योगी कुमार गिरी के किरदार में उनका चेहरा ही आड़े आता है। क्योंकि एक तो उनका चेहरा टिपिकल है, दूसरे, वह वकीलों, जासूसों और पुलिस इंस्पेक्टरों का शहराती चेहरा है। पर अशोक कुमार ने इस कमी को वहाँ आवाज़ के सहारे छिपा लिया है। "सावन में फुलनेवाली कली, तुझे पतझड़ की ख़बर नहीं"—इस डायलाग को ज़रा गौर से सुनिये। उसमें तेज़ और वैराग्य का गहरा पुट है। आख़िरी सीन पर गौर कीजिये, जब वे पश्चाताप ज़ाहिर करते हुए चलते हैं और उन्हें काला नाग काट लेता है। यहाँ उन्होंने अन्तर्वेदना को केवल आँखों की सिलगन और नथुनों की थरथराहट से व्यक्त किया है! बाक़ी कुछ नहीं।

सवाल : मगर इन दोनों फिल्मों में वे मिस कास्ट तो हैं?

जवाब : मिस कास्ट हैं। पर मिस फिट नहीं। मिस फिट उसे कहते हैं, जिसे एक्टिंग न आये। मगर मिस कास्ट अभिनेता अगर अपने पात्र को सही और सटीक जेस्चर्स दे जाये, और उसके जज़्बातों को स्क्रीन पर महसूस करा दे, तो मैं उसे सफल अभिनेता ही मानूँगा!......

सवाल : अशोक की कोई ताज़ा फिल्म जो आपको....

जवाब : **पान पराग** के एड में उनका अभिनय। जरा गौर से देखिये! उनका चौंकने का अभिनय और फिर "हो हो" करके झटके से हँस पड़ना। इतनी परफैक्ट टाइमिंग और आवाज़ में इतनी एक्यूरेट रांजस्टरिंग.... विरलों को नसीब होती है! जी हाँ, ऐसी वैसी चीज़ नहीं हैं अशोककुमार ! वे दि **अशोककुमार** हैं!

☐ **सुमन चौरसिया**

महानगर के घोंसले में वन की अछूती चिड़िया!

अभिनेता अशोककुमार की बहुत-सी याद उनके गाये गीतों को लेकर है। सन् 1936 में **अछूत-कन्या** बनी। तब, अशोककुमार ने देविकारानी के साथ एक गाना गाया था। "मैं बन का पंछी बन के संग संग डोलूँ रे।" यह प्रणय-गीत तुरंत सारे भारत के लोगों की जुबान पर चढ़ गया था। यह गीत उस जमाने के युवकों और आज के बुजुर्गों को आज भी ताज़ा लगता है। इसके बाद अशोक कुमार और लीला चिटनिस की जोड़ी ने फिल्म-जगत में धूम मचा दी। फिल्म **कंगन** ने गाया "राधा राधा प्यारी राधा, राधा प्रेम अगाधा" ने कितने आज़ाद परिंदों को बंधन में बाँधा! यह गीत भी लोकप्रिय हुआ और मेरे प्रिय गीतों में से एक है। इसके बाद *बाम्बे टॉकीज* ने **झूला** फिल्म बनायी सन् 1940-41 में। "ना जाने किधर मेरी नाव चली रे"—अशोक का यह गीत तब बहुत पसंद किया गया था। इसके अलावा, "हमने किसी से सुनी कहानी एक सफ़र ये जिदंगी" जिसे अशोक ने गाया था, और "मुझे मत भूलना मेरे चितचोर" जिसे अशोक और लीला चिटनिस ने मिलकर गाया था—इन गीतों का तो जैसे जवाब नहीं था। "चल चल रे नवजवान" सहगान का दूसरा हिस्सा एवं स्वयं अशोक जी ने गाया था और मंत्रमुग्ध कर दिया था। तब आजादी के संघर्ष का जमाना था। देशभक्ति और अंगरेजों का विरोध हमारी धमनियों के रक्त में उफान ले रहा था। उस संदर्भ में ऐसे गीत हमारे लिए जाती तौर पर प्यारे हो गये थे। प्रेमी-प्रेमिका के दृश्य भी—जो सदियों के इंसान के निजी जीवन का अंग थे—परदे पर शालीनता के साथ आ रहे थे, इसलिए उस दौर में सिनेमा और सिनेमा संगीत से गहन-रागात्मक संबंध बनाते हमें देर नहीं लगी। अशोक कुमार और लीला चिटनिस की जोड़ी हमारे लिए एक साथ सपना और यथार्थ हो गयी थी। सन् 41 की **अनजान** का एक गीत मुझे आज भी याद आता है। "प्यारे प्यारे सपने हमारे"। इसे अशोक कुमार ने नायिका के साथ, और फिर *सोलों* के रूप में अलग से गाया था। इस फिल्म की ख़ास बात यह थी कि इसका संगीत पन्नालाल घोष ने दिया था, जो बाँसुरी-वादन में अब इतिहास बन चुके हैं। अशोक कुमार का "ना जाने किधर मेरी नाव चली रे"—विश्वास कीजिये, इतना लोकप्रिय हुआ था कि ठेलेवाले, ताँगेवाले, राहगीर और कुली-मजदूर गाते चले जाते थे। **बंधन** का "कुहू कुहू बोले रे मोरी कोयलिया, मन में मीठा सा रस घोले रे कोयलिया", हमें मादकता से बेहोश सा कर देता था। क्योंकि इसके साथ युवा, सलोने अशोक और अनिंद्य सुंदरी लीला चिटनिस की जोड़ी थी जो हमारे दिलों को गुदगुदा जाती थी।

अशोककुमार के गीतों की लोकप्रियता का खास कारण तब की संगीत निर्देशिका सरस्वती देवी थीं, जो बॉम्बे टॉकीज की अनुबंधित संगीतकार थीं। पार्श्वगायन तो खैर बाद में आया। पर तब अभिनेता अभिनेत्रियों से गवा लेना और और गीतों को जनता के बीच लोकप्रिय बना देना... आज के हिसाब से... कमाल की बात ही समझी जानी चाहिए। सन् 1944 में **नया संसार** आयी। इसमें सरस्वती देवी और आर.सी. पाल का संगीत था। नायिका थीं, अशोक के साथ रेणुका देवी। रेणुका देवी को प्यार जताने के लिए कवि प्रदीप ने जिन शब्दों का प्रयोग किया, क्या कोई भुला सकेगा कभी भी?

कब तक बोलो छुपी रहोगी ओर मेरी आशा
मैंने पढ़ ली आज तुम्हारे नैनों की भाषा

नया संसार एक पत्रकार की कहानी थी। समीक्षकों ने उसे सराहा था। यह उस दौर की पहली अशोक-फिल्म थी, जिसमें अशोककुमार के परिपक्व अभिनय की ओर सबका ध्यान गया था, और मान लिया गया था कि अशोक कुमार फिल्मी पर्दे पर एक लंबी पारी खेलेंगे। इस फिल्म ने अशोककुमार की गायिकी के कारण भी अपार सफलता अर्जित की। एक अन्य गीत जो मुझे इतने दशकों के बाद भी याद है, इस तरह है—"मेरा मन खो गया है, कहाँ ढूँढूँ, कहाँ पूछूँ"। इसे हमारे प्यारे अशोक जी ने गाया था। इसके बाद आई थी—**नजमा, अँगूठी** और **चल चल रे नौजवान** । **नजमा** में रफीक गजनवी का संगीत था। इसमें अशोक जी के गाये हुए दो एकत्र गीत थे, और बाक़ी उन्होंने सितारा देवी, पारुल घोष और मुमताज के साथ गाये थे। पारुल घोष के साथ गाया हुआ, उनका "भला क्यूँ ही, मगर क्यूँ कहोगे ऐसी बात" मुझे अब भी याद है। यह अलग बात है कि अशोक जी का प्रशंसक होने के कारण मैं उनके गीतों को ही ज़्यादा पसंद करता था। "तरसी हुई हैं मोहब्बत से आँखे" और "क्या मोहब्बत का यही अंजाम है" तो मेरे लिए यादगार बन चुके हैं! **चल चल रे नौजवान** भी मैंने देखी थी! उसमें जहाँ तक मुझे याद है, गुलाम हैदर का संगीत था। सायरा बानो की माँ, नसीम बानो, उस फिल्म में अशोक की नायिका थीं। और नसीम, जैसा कि उनका नाम था, सचमुच नसीम थीं, याने सुबह की हवा। **चल चल रे नौजवान** का एक गाना मुझे याद है। "बोलो हर हर महादेव"। इसे अशोककुमार ने ही गाया था।

अशोक कुमार फिल्मिस्तान की **शिकारी** तक गाते रहे जो 1946 में आयी थी। इस फिल्म में उनकी नायिका वीरा थी। अशोक ने गाया था—

"डोल रही है नैया मेरी डोल रही है नैया,
जगमग है आसमाँ, जगमग है मेरे प्राण,

अशोककुमार ने आगे गाना बंद कर दिया। सन् 1948 में **फिल्मीस्तान** की एक फिल्म आयी थी **साजन** । नायिका थीं, रेहाना।सुप्रसिद्ध सी. रामचंद्र ने उसका संगीत दिया था। अशोक कुमार ने पहली बार इस फिल्म में रफी क़ी आवाज़ ली थी। और ऐसा भी क्यों हुआ? इसलिए कि दंगों के कारण अशोककुमार फिल्मीस्तान स्टूडियो में वक़्त पर नहीं पहुँच पाये थे। वह गाना था—

"हमको तुम्हारा ही आसरा, तुम हमारे हो न हो।"

आज भी रेडियो पर जब यह गीत बजता है तो दादा मुनि का **साजन** में वह सदाबहार, तरो-ताज़ा चेहरा याद आ जाता है। इसके बाद तो पार्श्व गायन की तकनीक ने फिल्म-जगत् में पाँव जमा लिए और अशोक कुमार सिर्फ़ अभिनय की ओर मुड़ गये।

☐ आर.के. शर्मा
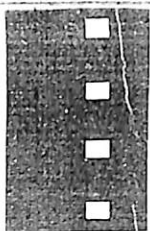
प्रतिभा और श्रम का संगम : अभिनेता अशोककुमार

दादा मुनि की अभिनय-यात्रा का हम विश्लेषण करें, तो इस लंबी यात्रा में कई मोड़ और मुक़ाम मिलेंगे। चालीस के मध्य दशक में जहाँ से अशोककुमार का अभिनय काल प्रारंभ होता है, वह क़रीब-क़रीब फिल्म जगत् के इतिहास का भी मुखर काल कहा जा सकता है। यहाँ से अभिनय, तकनीक और संगीत की दृष्टि से एक बदलाव शुरू होता है। लंबे-लंबे हाथ हिलाकर, और आवाज़ को जबरन ऊँचा चढ़ाकर जो नाटकीय अभिनय किया जाता था, वह करीब-करीब मिटने लगता है। संगीत जन जीवन की ओर लौटने लगता है, और लोकसंगीत तथा शास्त्रीय संगीत के विपुल खजाने से अपना मध्यवर्ती रूप लेकर माधुर्य और काव्य के साथ साउंड ट्रेक पर आता है। कहानियों में परिवर्तन यूँ होता है कि वे आदर्श शालीन प्रेम या देशभक्ति के ऊँचे जज़्बे की तरफ मुड़ जाती हैं। और उनका सूँछा नौटंकियापन टूटने लगता है। मगर अभिनेता अशोककुमार के कोष्ठक में अभी भी यह थोड़े झिझक और कच्चेपन का दौर है। **अछूत कन्या** में वे कुछ सकुचाये, या यूँ कहें, झेंपते हुए नज़र आते हैं। बावजूद इसके **अछूत कन्या** रेकार्ड तौर पर सफल हुई थी और अब भारत की क्लैसिक हिंदी फिल्मों में शुमार की जाती है। फिल्म **किस्मत** के आते तक यह साफ़ हो जाता है कि अशोककुमार अब केंद्र में आ चुके हैं। और अभिनय को अपनी पकड़ में ले चुके हैं। यहाँ उनकी चाल ढाल और भाव-भंगिमाओं में आत्मविश्वास और लय है। पुराना लजीलापन छँट चुका है।

लेकिन आज के अभिनेताओं की तरह वे अपनी प्रारंभिक सफलता से खुश नहीं हो जाते। वे एक्टिंग को मिशन की तरह लेते हैं। उसे चुनौती मानते हैं। वे धीरे-धीरे अपने अभिनय को तराशते हैं। और कितावों तथा दैनिक जीवन से वहुत कुछ सीखते हैं। यह कह देना कि वे सफल और स्वाभाविक अभिनेता हैं, प्रतिभा को स्वीकार करके श्रम के तत्व को कम आँकना है। अशोक की यह सहजता, किसी खिलाड़ी के खेल की ईज की तरह, लंबे अभ्यास का नतीज़ा है। इसे उन्होंने जितना कुदरत से पाया उससे ज़्यादा मानवीय श्रम से हासिल किया है। सन् 50 के लगते-लगाते दिलीपकुमार, देवआनंद और राजकपूर फिल्मी फलक पर छाने लगते हैं। अशोक के लिए प्रतिद्वंद्विता और चुनौती का वातावरण बनने लगता है। इस दशक की फिल्में देखिये। अशोककुमार अपनी पुरानी फिल्मों से ज़्यादा मजबूत और सुस्पष्ट नज़र आते हैं। लगता है उन्होंने अभिनय की वारीक़ियों पर सोचना शुरू कर दिया है। वे **दीदार** में दिलीप के साथ आएँ, या **बेवफा** में राजकपूर के या **बादवान** में देवआनंद के साथ उनका अभिनय संयमित और गहरा अंडरप्लेइंग लिये हुए होता है। यह सब दादा मुनि एक प्लानिंग के तहत करते हैं। भारत में मुख्यतः पुरुष प्रधान फिल्में हुई हैं। स्त्री-प्रधान फिल्मों की संख्या अपवाद के तौर पर है। इनमें भी सफल फिल्में वहुत कम हैं। इसका नतीज़ा यह है कि निर्माता अपनी रकम का बहुत बड़ा हिस्सा अभिनेताओं पर लगाते आये हैं, और उसी अनुपात में इन पुरुष अभिनेताओं के वीच *प्रतिस्पर्द्धा* का माहौल पनपता गया है। दादा मुनि इससे कैसे अछूते रह सकते थे। अतः जब भी उन्होंने अपने साथी अभिनेता या अभिनेत्री के साथ काम किया, अपने रोल पर बहुत मेहनत की और भूमिकाओं में वारीक़ियाँ तथा डिटेल्स भरे। उन्होंने कभी वेमन से, या कोरे व्यावसायिक भाव से, सेट पर काम नहीं किया। परिश्रम का रंग उनके काम में साफ़ महसूस होता है।

इस प्रतिद्वंद्विता के *स्वस्थ* नतीजे सामने आये। फिल्में गहरी हुईं। अभिनय-कला में समृद्धि आयी। **दीदार** का उदाहरण लीजिये। इसमें अशोक और दिलीप एक दूसरे के सामने हैं। ऐसा लगता है जैसे अभिनय की जुगलबंदी चल रही है। आरोह-अवरोह में दिलीपकुमार अपने चिर-परिचित मैनरिज्म और मसीहाई अंदाज़ से भूमिका में प्राण फूँकते हैं, पर अशोककुमार सधकर *लो की* में ही चलते हैं। एक आग से काम लेता है, तो दूसरा आँच से। एक का दर्द मुखर है, तो दूसरा ख़ामोशी के पीछे उसे छिपा लेता है, **दीदार** में अशोककुमार कहीं भी अतिरेक में नहीं जाते। उनकी पीड़ा तनाव और अन्तर्द्वन्द्व सब मर्यादा के भीतर है। यहाँ तक कि दिलीप के वरक्स उन्होंने जितने भी सीन किये हैं, उन्होंने साधारण भावभंगिमाओं, संयमित संवाद-अदायगी, आक्रोश या खोज से भरी पनियल आँखों तथा जोर से सिगरेट फेकने जैसी हरकत से काम लिया है। ऑपरेशन बाद के प्रसिद्ध सीन में जहाँ में जहाँ वे दिलीप से लौट जाने को कहते हैं, दिलीप माला को "ज़िंदगी से ज़्यादा खूबसूरत" वतलाकर उन्हें गुस्से से भर देता है। वे दिलीप पर हाथ छोड़ देते हैं। बाद में पश्चाताप का

प्रसंग आता है। पर लंबा चौड़ा प्रलाप करने के बजाय वे दरवाज़े से, निःशब्द,
हाथ घायल कर लेते हैं। यह भी एक ट्रेजिक अभिनय है। पर दूसरे क़िस्म का।
इसमें सामाजिक मर्यादा और कर्तव्य का ख्याल है। यहाँ अपनी वेदना के गुप्त सुख
का रस लेने के बजाय एक आत्मा नियंत्रित इंसान, समाज के लिए, अपने ग़म को
खुद मे उतार लेता है। अशोक, एक दृष्टिकोण से, **दीदार** के मुख्य ट्रैजिक नायक
हैं, हालांकि कथानक जन-सहानुभूति को दिलीप के पक्ष में खींच ले जाता है। इसी
फिल्म का दूसरा दृश्य है। नरगिस, कविराज के गाने से, परेशान होकर, अपने कमरे में लौटी
है। कैमरा अशोककुमार पर टिका हुआ है। वे खामोशी से सिगरेट जलाते हैं।
और कश लेते हैं। फिर वे पलटकर नरगिस से पूछते हैं—''क्यों क्या बात है?
इतनी बदहवास क्यों हो?'' नरगिस जवाब देती है—''न जाने कविराज के गाने में
ऐसी क्या बात थी कि मैं खुद को संभाल नहीं पायी।'' अशोक धीरे से पूछते
हैं—''क्या तुम उसे पहले से जानती हो?'' नरगिस जवाब देती है—''यकीन से
नहीं कह सकती। पर ऐसा लगता है, कविराज के गाने का मेरे बचपन से ताल्लुक
है।'' अब यहां हकीकत यह है कि अशोक पहले से जानते हैं कि कविराज नरगिस
को बचपन से प्यार करता है। अगर नरगिस को पता चल गया कि उसके बचपन
का साथी इत्तफाक से उसी के घर में आ गया है, तो मुमकिन है, वह उसकी
तरफ खींच सकती है। अशोक को यह मंजूर नहीं। क्योंकि लाख वह भला इंसान
हो, इतना बड़ा इंसान नहीं कि अपनी मंगेतर को कविराज पर गवाँ दे। अशोक
इस बारीक़ सीन को महीन ढंग से पूरा करते हैं। वे धीरे से मुँह विकृत करते हैं,
लहजे में तंज का पुट लाकर फुर्ती से कह जाते हैं— यह तुम्हारा वहम है। तुम
आराम करो। इस छोटे से सीन में अशोककुमार की चुस्ती, भंगिमाओं की पकड़,
संवाद के लहजे की समझ, और आवाज़ के तौल की सूक्ष्मता का पता चल जाता
है, जैसे वे सुई गिराते हैं और सुई उठाते हैं और उसकी धीमी आवाज़ के शोर
को वे ही समझते हैं। यह *कटिंग* और *एडीटिंग* गजब की है। यह है अभिनय-कला
में फिनिशिंग, इसे अशोक कुमार—टच कहते हैं।

दादा मुनि के अभिनय की एक और खूबी है। उनका सिगरेट पीने का अंदाज़। वे
स्वयं कहते हैं, ''फिल्म के भीतर यह उनके *रिएक्शन* का अपना तरीक़ा है। निर्देशकों
से उनको इसकी छूट मिली हुई है। उनके सिगरेट केस खोलने, उस पर सिगरेट
ठोंकने, और फिर उसे इत्मिनान के साथ सुलगाकर धुंआ छोड़ने की डेलीकेट बेलेंसिंग
में, सीन का तनाव जीवंत रूप से व्यक्त हो जाता है और ऐसी मुर्दा चीजें भी
अभिनय करने लगती हैं। हम कह सकते हैं कि दादा मुनि के अभिनय संसार में
उनकी सिगरेट का धुँआ भी बेवक्त नहीं उठता।

अशोक जिन फिल्मों में रहे, अपने साथी कलाकारों को भी प्रभावित किया। **महल**
में ज़्यादातर वे आँखों से काम लेते हैं। वही अंदाज़ उनसे मधुबाला ने सीखा।

उस दौर की अभिनेत्रियों को याद करें तो मधुबाला की बोलती हुई आँखें स्मृति में उभर आती हैं। **महल** के जिन क्लोज-अपों में वह हमारे सामने आती हैं, उसकी तीखी, खामोश चितवन, रहस्य और इरादे को साफ-साफ ज़ाहिर कर जाती हैं। बोलने की जरूरत नहीं पड़ती। इसी तरह **नाजनीन** फिल्म में मधुबाला दिखाई नहीं देती। सिर्फ़ उसकी बात सुनाई पड़ती है। पर आवाज़ का वह अभिनय चेहरे का काम कर गया है। उस दौर का दर्शक आज 35 सालों बाद भी मधुबाला को भूल नहीं पाता। सुना है, दादा मुनि स्टुडियो जाते वक्त कार में अभिनय का *एन्सायक्लोपिडिया ब्रिटैनिका* पढ़ा करते थे। इससे उन्होंने बहुत कुछ सीखा होगा।

किशोरकुमार की फिल्म **चलती का नाम गाड़ी** हास्य प्रधान फिल्म थी। पर अशोककुमार को उसमें ऐसे पात्र का अभिनय करना था, जिसे लड़कियों के प्रति नफ़रत है। वे बड़ी आसानी से पात्र का मानसिक माहौल तैयार कर देते हैं और दर्शक उसमें डूब जाता है।

उनका कामेडी पक्ष भी इतना ही स्वाभाविक है। **विक्टोरिया नं. 203** और **शौकीन** में वे नयी छाप दर्शकों पर छोड़ते हैं। मुस्कराते हुए, अलसभाव से वे **विक्टोरिया** में एक शरारती बूढ़े का रोल करते हैं, जिसमें उनका शरारती मिज़ाज भी शामिल हो जाता है। **शौकीन** में ए.के. हंगल और उत्पल दत्त जैसे मंजे हुए अभिनेताओं से साथ है। तुलना का एक अनचाहा प्रसंग बनता है यहाँ। पर तीनों अभिनेता टक्कर की भूमिका निभाते हैं। हाँ, दादा मुनि अपनी चिर-परिचित सहजता और शराफत के कारण जब बायनोकुलर्स से रति को निहारते हैं, तो थियेटर में अतिरिक्त हास्य पैदा होता है। सच्चाई तो यह है कि वे कभी किसी फ्रेम में बँधकर नहीं रहे। सारी फ्रेमें उन्होंने दी। ऐसा तब होता है जब अभिनय-प्रतिभा हो और पूर्वग्रह कोई न हो।
■

□ **प्रफुल्ल नागड़ा**

प्रसंग आता है। पर लंबा चौड़ा प्रलाप करने के बजाय वे दरवाज़े से, निःशब्द,
हाथ घायल कर लेते हैं। यह भी एक ट्रेजिक अभिनय है। पर दूसरे क़िस्म का।
इसमें सामाजिक मर्यादा और कर्तव्य का ख्याल है। यहाँ अपनी वेदना के गुप्त सुख
का रस लेने के बजाय एक आत्मा नियंत्रित इंसान, समाज के लिए, अपने ग़म को
खुद मे उतार लेता है। अशोक, एक दृष्टिकोण से, **दीदार** के मुख्य ट्रेजिक नायक
हैं, हालांकि कथानक जन-सहानुभूति को दिलीप के पक्ष में खींच ले जाता है। इसी
फिल्म का दूसरा दृश्य है। नरगिस, कविराज के गाने से, परेशान होकर, अपने कमरे में लौटी
है। कैमरा अशोककुमार पर टिका हुआ है। वे खामोशी से सिगरेट जलाते हैं।
और कश लेते हैं। फिर वे पलटकर नरगिस से पूछते हैं—''क्यों क्या बात है?
इतनी बदहवास क्यों हो?'' नरगिस जवाब देती है—''न जाने कविराज के गाने में
ऐसी क्या बात थी कि मैं खुद को संभाल नहीं पायी।'' अशोक धीरे से पूछते
हैं—''क्या तुम उसे पहले से जानती हो?'' नरगिस जवाब देती है—''यकीन से
नहीं कह सकती। पर ऐसा लगता है, कविराज के गाने का मेरे बचपन से ताल्लुक
है।'' अब यहां हकीकत यह है कि अशोक पहले से जानते हैं कि कविराज नरगिस
को बचपन से प्यार करता है। अगर नरगिस को पता चल गया कि उसके बचपन
का साथी इत्तफाक से उसी के घर में आ गया है, तो मुमकिन है, वह उसकी
तरफ खींच सकती है। अशोक को यह मंजूर नहीं। क्योंकि लाख वह भला इंसान
हो, इतना बड़ा इंसान नहीं कि अपनी मंगेतर को कविराज पर गवाँ दे। अशोक
इस बारीक़ सीन को महीन ढंग से पूरा करते हैं। वे धीरे से मुँह विकृत करते हैं,
लहजे में तंज का पुट लाकर फुर्ती से कह जाते हैं— यह तुम्हारा वहम है। तुम
आराम करो। इस छोटे से सीन में अशोककुमार की चुस्ती, भंगिमाओं की पकड़,
संवाद के लहजे की समझ, और आवाज़ के तौल की सूक्ष्मता का पता चल जाता
है, जैसे वे सुई गिराते हैं और सुई उठाते हैं और उसकी धीमी आवाज़ के शोर
को वे ही समझते हैं। यह *कटिंग* और *एडीटिंग* गजब की है। यह है अभिनय-कला
में फिनिशिंग, इसे अशोक कुमार—टच कहते हैं।

दादा मुनि के अभिनय की एक और खूबी है। उनका सिगरेट पीने का अंदाज़। वे
स्वयं कहते हैं, ''फिल्म के भीतर यह उनके *रिएक्शन* का अपना तरीक़ा है। निर्देशकों
से उनको इसकी छूट मिली हुई है। उनके सिगरेट केस खोलने, उस पर सिगरेट
ठोंकने, और फिर उसे इत्मिनान के साथ सुलगाकर धुंआ छोड़ने की डेलीकेट बेलेंसिंग
में, सीन का तनाव जीवंत रूप से व्यक्त हो जाता है और ऐसी मुर्दा चीजें भी
अभिनय करने लगती हैं। हम कह सकते हैं कि दादा मुनि के अभिनय संसार में
उनकी सिगरेट का धुँआ भी बेवक़्त नहीं उठता।

अशोक जिन फिल्मों में रहे, अपने साथी कलाकारों को भी प्रभावित किया। **महल**
में ज़्यादातर वे आँखों से काम लेते हैं। वही अंदाज़ उनसे मधुबाला ने सीखा।

उस दौर की अभिनेत्रियों को याद करें तो मधुबाला की बोलती हुई आँखें स्मृति में उभर आती हैं। **महल** के जिन क्लोज-अपों में वह हमारे सामने आती हैं, उसकी तीखी, ख़ामोश चितवन, रहस्य और इरादे को साफ-साफ ज़ाहिर कर जाती हैं। बोलने की जरूरत नहीं पड़ती। इसी तरह **नाजनीन** फिल्म में मधुबाला दिखाई नहीं देती। सिर्फ़ उसकी बात सुनाई पड़ती है। पर आवाज़ का वह अभिनय चेहरे का काम कर गया है। उस दौर का दर्शक आज 35 सालों बाद भी मधुबाला को भूल नहीं पाता। सुना है, दादा मुनि स्टुडियो जाते वक्त कार में अभिनय का *एन्सायक्लोपिडिया ब्रिटेनिका* पढ़ा करते थे। इससे उन्होंने बहुत कुछ सीखा होगा।
किशोरकुमार की फिल्म **चलती का नाम गाड़ी** हास्य प्रधान फिल्म थी। पर अशोककुमार को उसमें ऐसे पात्र का अभिनय करना था, जिसे लड़कियों के प्रति नफ़रत है। वे बड़ी आसानी से पात्र का मानसिक माहौल तैयार कर देते हैं और दर्शक उसमें डूब जाता है।

उनका कामेडी पक्ष भी इतना ही स्वाभाविक है। **विक्टोरिया नं. 203** और **शौकीन** में वे नयी छाप दर्शकों पर छोड़ते हैं। मुस्कराते हुए, अलसभाव से वे **विक्टोरिया** में एक शरारती बूढ़े का रोल करते हैं, जिसमें उनका शरारती मिज़ाज भी शामिल हो जाता है। **शौकीन** में ए.के. हंगल और उत्पल दत्त जैसे मंजे हुए अभिनेताओं से साथ है। तुलना का एक अनचाहा प्रसंग बनता है यहाँ। पर तीनों अभिनेता टक्कर की भूमिका निभाते हैं। हाँ, दादा मुनि अपनी चिर-परिचित सहजता और शराफत के कारण जब बायनोकुलर्स से रति को निहारते हैं, तो थियेटर में अतिरिक्त हास्य पैदा होता है। सच्चाई तो यह है कि वे कभी किसी फ्रेम में बँधकर नहीं रहे। सारी फ्रेमें उन्होंने दी। ऐसा तब होता है जब अभिनय-प्रतिभा हो और पूर्वग्रह कोई न हो। ■

☐ प्रफुल्ल नागड़ा

फिल्म "महल" की आंतरिक विसंगतियों में उलझा नायक अशोक कुमार

हमें **महल** फिल्म से वही शिकायत है, जो कभी टी.एस. इलियट को शेक्सपियर के नाटक **हेमलेट** से थी। **महल** और **हेमलेट** दोनों में ही कथानायक प्लॉट की तार्किक असंगति के शिकार होते हैं। **हेमलेट** में बदला लेने का जज़्बा किरदार से इतना बड़ा हो गया है कि पूरा प्रसंग गमले में बरगद रोपने की तरह हो जाता है। और हेमलेट बदला लेने के बजाय जज़्बे की अनावश्यक अधिकता से उलट जाता है। **महल** में अशोक कुमार भी कथा के परस्पर विरोधी तंतुओं में ऐसा उलझता है कि वह जीवंत और गतिशील साबित होने के बजाय प्लॉट का जड़ यंत्र बना रह जाता है। वह अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व विकसित करने की जगह एक साँचा बनकर रह जाता है, जो कथा-लेखक और निर्देशक के हाथों कठपुतली की तरह नाचता है। हम मानते हैं कि **महल** में अशोक कुमार और उसके पात्र को खुलने-फैलने का स्कोप नहीं मिला, और उन्हें को काठ बातूनी चेहरा बनाकर बिठा दिया गया है।

जानते हैं, इसके विरोध में यह कहा जा सकता है कि इतना सीरियस होने की ज़रुरत नहीं है। सिनेमा सिर्फ़ सिनेमा होता है और वह मनोरंजन करने के लिए होता है। पर हम क्योंकि विचार ही इस कोण से कर रहे हैं कि **महल** में अशोक का अभिनय कैसा है **महल** की समीक्षा या कूट परीक्षण ज़रूरी हो जाता है। यह बहस हम इस मुद्दे को अलग करके कर रहे हैं कि **महल** अपने जमाने की सफलतम फिल्म थी और आज तक रहस्य-रोमांच का क्लैसिक मानी जाती है। फिर, सफलता शब्द स्वयं संदिग्ध है, क्योंकि सफलता के कई मायने और कई स्तर होते हैं।

पहले पता कीजिये, प्लॉट के भीतर से फिल्म का ख़ास मक़सद क्या है? यह भी देखिये कि कहीं मनोरंजन के नाम पर स्वयं मक़सद अनेक अन्तर्विरोधों से स्प्लिट तो नहीं हो गया है? अगर ऐसा है, तो मुख्य पात्र, शंकर याने अशोक कुमार, मुर्दा धड़ और मुर्दा सिर की तरह हो जायेगा, जिसमें निर्देशक आरोपित प्राण का भूसा भरकर एक जीवित लाश को मनमाना नाच नचा रहा है। हम महसूस करते हैं कि **महल** में अशोक कुमार एक लौह-पोशाक में बंद है। और वह भागने-दौड़ने के बजाय केवल हिलने का काम करता है। सिर्फ़ जेल के सींखचे वाले सीन के अलावा हमें अशोक कुमार कहीं जीवंत नज़र नहीं आता! फिल्म के अंत को देखते हुए कथानक का ज़ाहिराना मतलब है कि महल में कोई प्रेतात्मा नहीं थी। सारा झूठ माली की छोकरी, कामिनी, का रचा हुआ था, जो अशोक जैसे सुदर्शन युवक को देखकर उसे प्यार करने लगती है। मगर तब फिल्म की रसधर्मिता का सारा दारोमदार भी प्रेतात्मा पर ही और उसी के कारण लता का "आयेगा आने वाला"

गीत फिल्म की और फिल्म-संगीत के इतिहास की जान बनता है। चलिये, मनोरंजनवादी सिनेमा के तर्क से यह भी मान लिया जाय कि एक माली की गँवार छोकरी इतना बड़ा "मेक-बिलीव" संसार रच सकती है कि उसे शरलॉक होम्स मान लिया जाये! मगर तब बुर्ज़ से कूदने, और झील में दुपट्टे के तैरने वाले दृश्य का तर्क क्या होगा? कोई मनुष्य हवा में ग़ायब होने जैसा कमाल नहीं कर सकता। आख़िर न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण नियम भी तो कोई चीज़ है। इसी तरह, कथाकार और निर्देशक उस दृश्य का मानवीय तर्क के भीतर क्या खुलासा करेंगे, जिसमें झूले पर झूलती हुई मधुबाला अचानक ग़ायब हो जाती है? उसे अगर हम सचमुच की प्रेतात्मा मानकर चलें, तो अदालत का दृश्य बेमानी हो जाता है और अशोक की मौत ज़रूरी नहीं रह जाती! तब तो फिल्म का वाँछित उद्देश्य ही ख़त्म हो जायेगा, जो यह है कि अशोक की मौत बतलाकर निर्देशक सिनेमा हाल में सफल ट्रेजिक फिल्म की ताली पिटवाना चाहता है। और दूसरी तरफ फिल्म अगर *अलौकिक सत्ता* (सुपर नेचुरल) पर आधारित होने के बजाय उसके होम्स को एक्सपोज करने का विज्ञानवादी श्रेय लेना चाहती है, तो वह उस घटना को एक साथ सच या झूठ कैसे बतला सकती है, जिसमें घड़ी का काँटा चलाने के प्रयास में महल का नौकर गिरकर मर जाता है? क्या कामिनी अपने बाप को मार सकती है या प्रेतात्मा अपने पिता का प्राण ले सकती है? इसी तरह एक अन्तर्विरोध और है। फिल्म अगर आलौकिक ज़मीन के बजाय शरारतपूर्ण मानवीय षडयंत्र पर आधारित है, तो आख़िर में श्रीनाथ और कामिनी क्यों एक दूसरे को छोड़कर चले जाते हैं? जिस कामिनी के लिए शंकर ने जान दे दी, वह कामिनी क्यों जिंदा रह गयी? अशोक की पत्नी की आत्महत्या के उपकारण के रुप में उस पर केस क्यों नहीं चला? इसके अलावा, यह जानने पर भी कि कामिनी प्रेतात्मा नहीं, हाड़माँस की जिंदा इंसान है, मजिस्ट्रेट साहब के शिक्षित बेटे शंकर (अशोक कुमार) का मोह भंग क्यों नहीं हुआ? और अगर कामिनी प्रेतात्मा नहीं थी, तो अशोक के पूर्वजन्म की तस्वीर बतलाने की क्या जरुरत थी? यानी कहानी या तो मानव-कामिनी के बारे में हो सकती थी या तस्वीर की सुपरनेचुरल थीम के बारे में? ये दोनों प्रकरण एक दूसरे को काटते हुए एक ही कथानक में क्यों है? बस एक ही मेल बनता है कि कामिनी अशोक कुमार के एंगल से उसके जनम-जनम की साथी थी, और पैसा देकर टिकट लेने वाले दर्शकों के नजरिये से एक फ्रॉड थी! हमें दोनों बातें पचानी है। हमें तय कर लेना है इस अशोक के दृष्टिकोण से फिल्म देख रहे हैं या दर्शक के दृष्टिकोण से, और हम चाहें तो पचास प्रतिशत के हिसाब से दो खेमों में भी बँट सकते हैं। कहने का आशय है कि फिल्म या तो सुपरनेचुरल की कपोल-कथा हो सकती है या नेचुरल का सिनेमाई ड्रामा। पर वह दोनों एक साथ नहीं हो सकती। **महल** में मगर ऐसा ही होता है। इसके देखते यदि आप अशोक कुमार हैं, तो अंत तक तय नहीं कर सकते कि आपको कौन-सा रोल करना है? एक यथार्थवादी रोल या निर्देशक की सनक से दिया गया रोल? यही कारण है कि अशोक कुमार फिल्म में टेलरमेड रोल करते हैं। और यंत्रवत्

बने रहते हैं। यूँ उन्होंने अपना काम बखूबी किया है। पर फिल्म की एक टाँग क्योंकि नितांत उल्टी दिशा में जाती है, अतः कामिनी का भाँडा फूटते ही अशोक कुमार से भी सहानुभूति नहीं रह जाती। अब वह फालतू मौत है!

लेकिन यह समीक्षा है! तर्क का आग्रह। और तर्क व्यापक संसार की भौतिक अकाट्यता पर आधारित होते हैं। हम इसीलिए अपने को सुरक्षित समझते हैं कि मछली जमीन पर नहीं तैरती और रेलगाड़ी हमारे घरों में नहीं घुसती। कला भी तब इसी मायने में नियमों में बद्ध है, और तभी वह हमारे भीतर रस पैदा करने में समर्थ होती है। "महल" फिल्म इस सिद्धांत को खंडित करती है और न्यूटन को नकारकर हमें गड्ढ़े में कूद जाने को फुसलाती है। बावजूद इसके "महल" हिट हो गई, यह दूसरी बात है। वह कैमरामैन और कमाल अमरोही का कमाल है, जो जनता के माथे में सुराख कर गया। फिल्म हमें भी पसंद आई। पर धाड़की पर पालतू रोल करने वाले एकांगी अशोक कुमार की फिल्मी मौत पर हमें जरा तरस नहीं आया! हम हंसते रहे। "महल" और शंकर के बजाय "मधुमति" और "आनंद" सुस्पष्ट थे।

■

☐ सुदर्शन आशन/सुहासिनी अशोकन
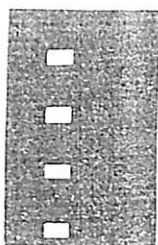
अशोक कुमार, बलराज साहनी और मोतीलाल भारत के हिन्दी सिनेमा में प्रकृत अभिनय की वृहतत्रयी का निर्माण करते हैं। इस स्कूल की विशेषता है—यथार्थवाद, सूक्ष्मता और उत्तेजनाविहीन अभिनय। यहाँ अभिनेता पात्र का अभिनय नहीं कर रहा होता, बल्कि उसे स्वाभाविक तौर पर जी रहा होता है, जैसा दैनिक जीवन में होता है। कह सकते हैं कि यहाँ अभिनय की वह शैली है, जो कोई शैली नहीं है। न कोई विशिष्ट, सधी हुई मुद्रा, न अतिरंजित चालढाल और न कोई नाटकीय संवाद-निर्वहन। अर्थात शुरु से आख़िर तक बने, बनाये जड़ साँचों का पूर्ण त्याग। यह एक नया और अद्वितीय उद्‌घाटन था—ख़ासकर तब, जब हम देखते हैं कि इस देश में अभिनय प्रतिभाएँ उस मिट्‌टी से निकलकर आती थी जिसमें अतिरंजना या मेलोड्रामा की भरपूर मिलावट होती थी। कई फिल्मों का कथानक तक अविश्वसनीय होता था। मगर राहत की बात तब भी, कुछ सीमा तक, यह है कि चंद यथार्थवादी अभिनेता इस लिजलिजेपन से उपर उठे और अपने अभिनय द्वारा अतिनाटकीय और अतिविकृत को स्वीकार्य और संयमित बनाया। इनमें भी अशोक कुमार—संभवतः लंबी पारी खेलने के कारण—वैविध्य और विस्तार अधिक दे पाये और उस विन्दु तक आ गये जहाँ हमें पूर्ण और समर्थ कलाकार मिलता है।

सबसे पहले, कलाकार व्यक्ति होता है। अंदर-बाहर से ख़ास आदमी। यहीं से उसकी संभावनाएँ, नये मोड़ और सीमाएँ निकलती हैं। और अपनी इसी सीमा में वह कभी-कभी अपने को फलाँग जाता है। अशोक कुमार, व्यक्ति नहीं, व्यक्तित्व के रुप में हमारे सामने आते हैं। वे अपने शरीर को एक मटेरियल की तरह इस्तेमाल करते हैं। वे *बॉडी-लेंग्वेज* की एक लंबी सड़क तैयार करते हैं, जिसमें कई मोड़, पड़ाव और झटके हैं। प्रमाण के बतौर, **ज्वेलथीफ** के बेहद होशियार खलनायक और **गुमराह** के तीव्र प्राणशक्तिवाले, सम्पन्न, व्यस्त वकील से लेकर **सबेरा** के शातिर, सपाट अपराधी तक, **आशीर्वाद** के प्रेमल, दुखी और टूटे हुये दादा जोगी से लेकर **कानून** के तीक्ष्णमति और संभ्रमति जज तक, **बंदिश** के रोमांटिक, चपल कमलराय से लेकर **शौकीन** के रसिया, अय्याश बूढ़े तक—कोई भी पड़ाव ले लीजिए, अपरिहार्य दादा मुनि शरीर और मुद्राओं से सैकड़ों भाषाएँ बोल सकते हैं। हर भूमिका अलग हर भूमिका मौलिक। ऊपर जैसा कहा, अभिनेता अपने शरीर और आत्मा के एक-एक सिक्के का पूर्णतः दोहन करता है। वह कुछ भी खाली नहीं छोड़ता। अशोक कुमार अपने स्टेचर का बखूबी इस्तेमाल करते हैं। उनका खड़े होने

का अंदाज़, सर उठाकर चलने की भव्य अदा, शरारत से चमकती आँखें, बोल में तंज का हल्का सा पुट, चेहरे के भावों के उड़ने तेज़ पतंगे, हाथों की अर्थपूर्ण हरकतें, सिगरेट सिलगाने का अंदाज़ और इस सबसे ऊपर संसर्गजन्य उन्मुक्त ठहाका—ये सब उनकी शख़्सियत के हिस्से हैं, अभिनब का कच्चा माल, जो प्रशंसनीय कला में ढ़लकर परदे पर आता है। जैसे धूप-छाँव के बीच रंगबिरंगी तितलियाँ उड़ रही हो। आपको याद होगा, **बंदिनी** में जिस पहली चीज़ पर नायिका टिप्पणी करती है, वह नायक अशोक कुमार की उन्मुक्त हँसी है। और यह हँसी ही कथानक को गहराने-उठाने का मुख्य सामान बन जाती है। जी हाँ, यहाँ है एक आदमी, जिससे कथा उम्मीद कर बैठती है कि वह हर हाल में हँसेगा, और अपने ट्रेजडी में भी हँसता हुआ मिल जायेगा। अंत में होता भी यही है। जब अशोक कुमार अपनी आसन्न मृत्यु के बारे में बात कर रहा होता है, जिसमें एक आदमी की निपट असहाय अवस्था छुपी होती है। ऐसे आदमी की, जिसे जीवन में कुछ मिला तो बस कल्याणी की ग़लतफ़हमी। (और परिस्थितियों के व्यंग्य)।

दरअसल आप ग़ौर करें, तो सूक्ष्मता आसानी से स्पष्ट हो जायेगी कि बहुत-सी फिल्मों में अशोक कुमार की मुस्कुराहट, खुशी, हँसी और ज़िन्दादिली, ट्रेजडी का या ट्रेजडी को छिपाने का ही मर्मस्पर्शी साधन है। आॅफकोर्स, भारतीय सिनेमा के परदे पर दिलीप ही *ट्रेजेडी* का पहला और अंतिम नाम है, जिसने वेदना के गहरे कोनो को अपनी तेज़ संवेदनशीलता से आलोकित किया है। पर अशोक में भी एक ट्रेजेडी है, और वह दूसरे प्रकार की ट्रेजेडी है। इस ट्रेजेडी में दिलीप की सघन निजी वेदना तो है, पर उसमें अशोक कुमारीय नायक की सामाजिक चेतना भी है। वह समाज को कभी नहीं भूल सकता—क्योंकि समाज उसकी प्राथमिकता है, निजी

दर्द नहीं, भले ही वह दर्द कितना ही जानलेवा क्यों न हो। दीदार, भीगी रात **बेवफा** और **बंदिनी** में—अशोकीय नायक का यही आदर्श रुप हमारे सामने आया है। और तो और, ऊँचे लोग देख लीजिए। इसमें अशोक और उसका नायक *अशोक-स्कूल* की पराकाष्ठा पर हैं। घर में बेटे का कातिल घुस आया है। अँधा मेजर कर्तव्य और जज्बात के कोल्हू में चला गया है। वह नैतिक रुप से मर सकता है। पर वह नैतिक रुप से ही खड़ा रह जाता है। वहाँ ट्रेजेडी ही छोटी पड़ जाती है और आदमी बड़ा हो जाता है। ऊँचे **लोग** में अशोक का किरदार बतलाता है कि वह टूट गया है, पर हारा नहीं। लगाम भी उसके हाथ में है। वह सुखद स्वार्थ के दुर्घर्ष घोड़े को थाम सकता है और अपनी वेदना को चुनौती दे सकता है। वह उठ जाता है, क्योंकि ऊंचे लोग सदा उठ जाते हैं और अपने बेटे के कातिल को अपने ही इंस्पेक्टर बेटे, राजकुमार की गिरफ्त से बचा लेता है। यह ट्रेजेडी **दीदार** और **देवदास** से अलग किस्म की है। यह ख़ामोशी के ज़्यादा नज़दीक है, जहाँ नर्स वहीदा एक *सोशल कॉज* के तहत पागल होती है। **मिली** को लीजिये। इसमें अशोक एक बाप बने हैं, जिसकी लाड़ली बेटी कैंसर की बीमार है। वह कभी भी मर सकती है। पर अशोक यहाँ ठहरते हैं। वह अपने दुख पर रीझ कर, नार्सिसिस्ट की तरह, यह नहीं सोचते कि संसार, भाग्य या प्रकृति उनके खिलाफ़ साजिश कर रही है, बल्कि यह कि अब बेटी की मौत उनका आख़िरी दर्द है। इसे घट ही जाने दो। यह यथास्थिति का विवेकपूर्ण स्वीकार है। **मिली** फिल्म का *भग्न* पिता बतलाता है कि अनिवार्य त्रासदी को, अकाट्य प्राकृतिक सच मानकर, स्वीकार करना, उसे सीधा देखना या बुद्धिमता के सहारे उससे उठने की कोशिश करना—मुस्कुराते हुए, खिलाड़ी की तरह—यही इंसान होने की गरिमा है। नातवानी में खुद को फलाँग जाने की शान है। इसे हाथ से छूटना नहीं चाहिये। दूसरे शब्दों में, अशोक ग्रीक ट्रेजडी के नायक हैं। शेक्सपीरियन ट्रेजेडी के दिलीप को वे लाँघ जाते हैं। आगे हम फिर एक बार दादा मुनि से **आशीर्वाद** में टकराते हैं। वहाँ वे हँसमुख पिता हैं। बच्चों के साथ खेलते हैं और ऊधम करते हैं। पर हँसी मज़ाक और मज़े के ये क्षण प्रच्छन्न, स्थानापत्र हैं, और उन्हें अपनी पुत्री को खो देने की याद दिलाते रहते हैं। दूसरे शब्दों में, अगर हम इस वेदनामय संसार को जीने के लिए कोई दृष्टि चुने तो वह कौन सी होगी? विकल्प दो ही है। शाश्वत से टूट जाइये या टूटने के बावजूद दुख को पारस बना लीजिए। और तब हमें अशोक का रास्ता हो बेहतर मालूम पड़ता है। अशोक ने यह सकारात्मक दृष्टिकोण दर्शकों को दिया है। सिनेमा इसलिए और उनके कारण सार्थक हो जाता है। मगर बात अशोक के ट्रेजिक हीरो और उसके अंतर्द्वंद्व की चल रही थी। अभिनय की सूक्ष्मताएँ और जन्मजात आदर्शवाद की ताक़त उन्हें वहीं मिलती हैं। उसे मिस नहीं करना चाहिए। तो आइये, एक बार फिर हम अशोक से **गुमराह** में मुलाकात करें। अब यहाँ क्या है। वही अन्तर्द्वन्द्व और अंडरप्लेइंग की बारीकियाँ एक तरफ़ पति

है, जो ईर्ष्या से जल रहा है क्योंकि उसकी पत्नी उसके पूर्व प्रेमी से मिलती-जुलती है। और दूसरी तरफ़ वही पति एक समझदार इंसान भी है। जो मनुष्य की विवशता को जानता है। अब वह क्या करें? सो, वह दो अस्तित्वों के तनाव को लेकर भागता रहता है। वे तनी हुई हैं, वे परेशान आँखें और कभी-कभी वे अनायास ठहाकें—उसकी *वर्चर्ड सोल* को व्यक्त करते हैं। अंत में जब वह अपनी पत्नी को *नारी की मर्यादा* पर लंबा नैतिकतावादी भाषण देते है, तो उसमें सब सब कुछ भुलाकर घर बसा लेने का आग्रह अधिक है। नाराज़ी, व्यंग और अहसान करने का दंभ ज़रा भी नहीं हैं। उसके लिए दूसरा व्यक्ति पुरुष हो या स्त्री—इंसान की हैसियत रखता है, और वह अपनी टोन से जो ऐसे आदमी की टोन है, जो ज़िंदगी को क़रीब से देख चुका है—इंसान की निजता के प्रति आदर जताता है। इस दृश्य में किसी किस्म का *इमोशनल ब्लैकमेल* नहीं है। किसी क़िस्म की चाहत—दर्शकों की या पत्नी की—सहानुभूति पाने की नहीं है। एक ख़ामोश गरिमा है, जो नायक को सिचुवेशन का हीरो बना देती है। इसी तरह 'बेवफा' में वह नरगिस को तंगहाली से उठाकर शानशौकत इज्ज़त बख़्शता है। पर वह जब उसे छोड़कर राजकपूर के साथ जाती है, तो उसे अपने अहसानों का हवाला नहीं देती, बल्कि उसे समझाने की कोशिश करता है कि उसका प्रेमी उसकी दौलत का भूखा है। आख़िर में नरगिस धोखा खाकर उसके पास लौटती है। पर तब वह ज़हर पीकर दुनिया से जा चुका है। द्वितीय नायक के रुप में यहाँ भी उसकी गरिमा खंडित नहीं होती। यहाँ भी वह अपने प्यार, ईर्ष्या और पीड़ा को समाज की मर्यादा पर हावी नहीं होने देता। यह सब अनायास नहीं है। भारत में ऐसा *आर्किटाइप* अशोक की शख़्सियत के कारण भी रचा गया है। अशोक ही उसे अमर कर पाये हैं। आप ऐसे कथानकों से, अशोक को हटा दीजिये। पात्र रह जायेगा, पर उसकी प्रमाणिकता और अपील घट जायेगी। क्या हम इसे हिन्दी सिनेमा या अशोक होने का योगदान नहीं मान सकते?

संक्षेप में, ट्रेजिक रोलों में अशोक कुमार—मार्का नायक का केन्द्रीय महत्व यही है कि वह आत्मविध्वंस और उसके रति सुख में विश्वास नहीं करता, बल्कि वहाँ मानवीय गरिमा के लिये चिंता नज़र आती है—मनुष्य के सामर्थ्य में विश्वास की। वह अपनी त्रासदी के खिलाफ़ बड़ा पड़ जाता है और ऐन वक़्त पर निजी स्वार्थ का कलुष निकाल फेकता हैं। अशोक की फिल्मों में अस्तित्व संघर्ष को रेखांकित करता है और जीवन आत्म-सम्मोहित वेदना के दलदल को पार कर जाता है, जो अक़्सर मनुष्य को लील लिया करता है।

एक फिल्म जिसमें अशोक कुमार मानवीय भावनाओं की समूची सीढ़ी को पार करता है, सबेरा है। फिल्म के आरंभ में वह एक अस्पताल का सदाशयी *इन्टर्न* है, जिसे एक स्त्री के मौत के आरोप में फ्रेम कर लिया जाता है। बाद में परिस्थितियां ऐसी घटती है कि वह छोटे-मोटे अपराधों से गुज़रता हुआ अपहरण, चोरी और धोखेबाज़ी के कीचड़ में फँसता चला जाता है।

वह हत्या करने की किनार तक पहुँच जाता है और हत्यारा मान लिया जाता है। आगे रेलगाड़ी में मिले साधु का भेष धारण कर लेता है जिसकी याददाश्त एक झाड़ से टकराने के कारण जा चुकी है। इसके आगे वह अपराध बोध और नैतिक पुनर्जागरण के बीच पेंग लेता रहता है—एक क़िस्म के फिजिकल और मेंटल डिके तथा स्वार्थपरायणता के उत्क्रमण के बीच जब तक कि उसका ओढ़ा हुआ संत रुप गांववासियों की सेवा करते-करते पाखंड को नैतिकसेवा में नहीं बदल देता, और सचमुच उसका "एपांथियोसिस" नहीं हो जाता। यहां उसे मीना के प्यार का तोहफा मिलता है, पर इस मुआवज़े को वह सुख और विराम में नहीं बदल पाता। इस फ़िल्म में वह कई मुक़ाम पार करता है—त्वरित गीत से, और मंजावट की ईज से। और उसकी चमकदार आँखे, उसकी दृढ़ता, इस अतिमानवीयकरण को विश्वसनीय बनाती चली जाती है। यह प्रभाव छोड़ता है एक ऐसे मस्तिष्क का, जो तेज़ी से काम कर रहा है, एक ऐसे इंसान का जो अपनी स्थिति को भली भाँति समझता है और अपनी नियति से उठने की सामर्थ्य रखता है। प्रेमी तक के रूप में, वह रोमांटिक दीवाना नहीं है, बल्कि सर को अपने कंधे पर रखकर, अपने मानवीय संतुलन खोयें बिना, अपनी हतभाग्यता और हानि को *ग्रेस* के साथ स्वीकार करता है और इन सबको साध जाने में उसका अंदाज़ एक लापरवाह खिलाड़ी का है, जो उसके रोल को चमक देता है। "सबेरा" में अशोक कुमार जहाँ कहीं मीनाकुमारी से मिलता है, उस स्त्री से, जिसके प्रति उसका प्यार विकास की तरह बढ़ता है, वह एक साथ तीन स्पष्ट भावों को रेखांकित करता है—मीना के प्रति गहरी समझ का, अपनी अवशता के अहसास का और एक प्रकार की *मेटाफिजिकल* अलसता का (लापरवाही नहीं) जो नाकामियों, नुकसानों के प्रति है। **सबेरा** में अस्त अशोक कुमार प्रातःकालीन सूर्य की तरह दमकता रहता है। वह पूर्ण आलोकहीन कभी नहीं होता।

उच्चकोटि के अभिनेता अपनी प्रतिभा को बड़ी सजगता से सजाते सँवारते हैं। इसमें एक मुख्य हिस्सा है—डिटेल्स के प्रति आग्रह। किरदार—जो पर्दे पर दरअसल छाया है—एक नियामी इंसान है। वह भी *होता है*। लिहाज़ा, अभिनेता के संवाद, हावभाव और माकूल *इंटोनेशन* के अलावा अभिनेता की दीगर *इन्डिविजुवलाइज्ड* हरकतें भी उसे स्पष्ट आकार देती इसके कारण वह स्वतंत्र, जीवंत सत्ता के रुप में स्वयं अभिनेता से अलग पहचान बनाता है। अब अगर उन्हें अंडरप्ले किया जाये तो अभिनय के रेशे उसके चरित्र के अंदरुनी डिटेल्स बन जाते है, और ओव्हरप्ले किया जाये तो वे फूहड़, स्थूल मैनरिज्म के रुप में पात्र का ग्रेस और संतुलन नष्ट कर देते है। इस मुद्दे पर अशोक कुमार ने अपने अभिनय को बहुत संभाल कर रखा है। मिसाल के तौर पर, **बंदिनी** के पात्र में वे अप्रगट तौर पर अपने को असुरक्षित महसूस करते है, जबकि वे बाहरी तौर पर एक समर्थ, सुलझे हुए इंसान हैं। मगर इस आंतरिक कंपन को वे किस तरह दर्शाते हैं? बार-बार अपनी शाल को पकड़कर, दबोचकर। समान्य दर्शक उनकी इस सूक्ष्म हरकत *नोटिस* नहीं ले पाता, मगर ध्यान से उन दृश्यों को देखा जाय तो अशोक कुमार की बेहतरीन अंडरप्लेइंग नज़र आ जाती है और दर्शक भी अनजाने पात्र की बेचैनी को आत्मसात् करके उसके साथ अनजाने बेचैन होने लगता है। अशोक कुमार के अभिनय की यही प्रमुख विशेषता है। **गुमराह** में वे अपनी पत्नी से फ्रेंच में बात करते हैं। पर यह हरकत पांडित्य का रौब-गालिब करने के लिए नहीं है, बल्कि यह संकेत देने के लिए है कि वकील के रूप में अपने धंधे में इतने मसरुफ हैं कि पत्नी को नज़रअंदाज़ कर जाते है। इस तरह वे प्लॉट जो अर्थपूर्ण बन जाते हैं क्योंकि आगे चलकर उनकी इसी व्यावसायिक व्यस्तता के कारण पत्नी को गुमराह होना है और कथा का ड्रामे में तब्दील होना है। **सबेरा** में उनकी आँखे परेशानी और बैचेनी को रजिस्टर करती है, आँखों का यह *ट्रबल्ड एक्सप्रेशन* ही फिल्म में उनकी अर्न्तवेदना का बाहरी समकक्ष बनता है। दरअसल अशोक कुमार के अभिनय के इस ख़ामोश बारीक़ियों को पकड़ना ज़रुरी है क्योंकि तभी हम उनका योगदान सही-सही आँक सकते है। संवेदनशीलता, प्रखर-बुद्धि और उर्वरकल्पना ऐसी मायक्रोस्कोपिक सूक्ष्मताओं को जाने अनजाने, ले आती हैं और अशोक कुमार की जीनियस तो ऐसी थिरकनों से भरी पड़ है। **आशीर्वाद** में वे कुछ नहीं करते, पर उनकी आँखें पीड़ा का एक कंपन रजिस्टर करते दिखती हैं। कहीं-कहीं उनकी आवाज़ में तीखा सर्दीलापन उभर आता है, जो डायलाग को *लाउड* होने से बचाता है और वाणी के बजाय अंतरनिहित टोन से अर्थ को सामान्यीकृत फीलिंग में बदल देता है। इसका कारण यह है कि अशोक कुमार बेहद प्रखर इंटेलीजेंस के मालिक है और महसूस करने की उनकी क्षमता रेजर की धार की तरह तेज़ अशोक कुमार की अभिनय प्रतिभा का एक और पक्ष है, जो अक्सर अनदेखा रह गया है। कॉमिडी भूमिकाओं का पक्ष। यहां भी वे "अंडरप्लेइंग" से काम लेते हैं। किसी पर *व्यंग्य* करना हो या किसी को चिमटी लेना हो, तो वे भौंहों की हरकत या आवाज़ के लहज़े से काम चला लेते हैं। मनुष्य की नादानी पर दार्शनिक की

तरह तरस खाना हो, तो वे कुछ नहीं बोलते, बल्कि धीरे-धीरे दाल में चलकर या चुप्पी के साथ सिगरेट जलाकर या बीच में बोलता हुआ गेप पैदा करके मंतव्य को मुखर बना देते हैं। अपने अभिनय के इस पक्ष में वे न परंपरागत शब्दावली को दोहराते है, न स्टॉक सामग्री को काम लाते है और न चीख़-पुकार मचाते हैं—बस परफेक्ट टाइमिंग और छोटा सा तीखा जुमला, तीर निशाने पर लग जाता है! **चलती का नाम गाड़ी** में वे एक खुशमिजाज पात्र हैं। किशोर और अनूप की तरह। मगर कथानक के भीतर उनकी आत्मारोपित गंभीरता स्वयं कामेडी का कारण बन जाती है, क्योंकि कोई भी पुरुष स्त्री जाति से चाहे कितनी नफ़रत करें, पुरुष और स्त्री का पारम्परिक आकर्षण इतना प्राकृतिक है कि स्त्री विषक नफ़रत, विश्वास के बजाय अविश्वास की चीज़ बन जाती है और उसका अतिरंजित दिखावा हँसी का कारण। **चलती का नाम गाड़ी** में बड़े भैया की यही नारी विरोधी मुद्रा कुछ ऐसा ही मनोरंजन पैदा करती है। हाँ, जहाँ तक अभिनय का सवाल है, किशोर और अनूप के विपरीत वे फिल्म में अनाटकीय ढंग से कामेडी करते हैं, जबकि दूसरे दोनों भाई *कॉमिक सिचुऐशन* का फ़ायदा उठाकर असर रचते हैं। बाक्सिंग मैच वाला दृश्य भी खूबसूरती से अंजाम दिया गया है। इसमें बड़े भैया स्वाभाविक बेरुखी से मैच खेलते हैं और छोटे भाई के दुस्साहस पर नाराज़ होते हैं। पर वे उससे प्यार ही करते हैं। दूसरी ओर, एक अन्य सीन है, जिसमें *वूमन हेटर* अशोक कुमार मधुबाला को अपने कमरे में पाते हैं, तो घबरा कर बड़बड़ाने लगते हैं, डरते हैं कि कोई उन्हें औरत के साथ देख न ले और फिर अपनी कमज़ोरी पर कोफ़्त करते रहते हैं कि *सुंदरी* को डाँटकर भगा क्यों नहीं सकते।

सरसरी तौर पर देखा जाय तो ऐसा मालूम पड़ेगा कि अशोक कुमार रोमांटिक भूमिकाओं के लिए नहीं बने हैं। वे घरेलू, पारिवारिक व्यक्ति के साँचे में या किसी व्यस्त *प्रोफेशनल* के किरदार में ज़्यादा फिट दिखाई पड़ते हैं (बजाय सुख दुःख के मोह में डूबे आत्मकेंद्रित प्रेमी के)। हाँ , वे सामाजिक किरदार ही ज़्यादा प्रतीत होते हैं, एक ऐसा टाइप जो ज़्यादातर सामाजिक मर्यादाओं की चौखट के भीतर रहता है। पर तनाव की नाटधर्मी परिस्थितियाँ सामाजिक पैमानों के भीतर यहाँ भी निकल आती है, जैसा कि **परिणीता** में होता है और अशोक वहाँ अन्तर्द्वन्द्व में जूझते नज़र आते हैं। **परिणीत** में अशोक कुमार छिपी हुई ईर्ष्या को भलीभाँति अंज़ाम देते हैं। उनके एक जुमलाई संवाद, व्यंग्य से तरबतर उक्तियाँ, टेढ़ी भौहें, नाराज़ तिरछे दृष्टिपात—ये सब ईर्ष्या को, एक्शन से ज़्यादा, व्यक्त कर जाते हैं। उनके तंजिया संकेत, सीधे आरोप से अधिक, नायिका को छेड़ते हैं और आखिर-आखिर में यह हिंट भी छोड़ते है कि वे बिना ज़ाहिर किये उसे किस शिद्दत से चाहते हैं। **परिणीता** फिल्म बतलाती है कि वे ख़ामोश शब्दहीन सम्प्रेषण के मास्टर हैं। **बंदिनी** में वे (अंसयमित राग-प्रदर्शन नहीं) बिखेरते हैं, जहाँ वे नूतन से मिलने आते हैं, बुखार में। यह प्रेम का नन्हा सा किन्तु सघन जेश्चर है। दृश्य की तुलना, ऐसे ही एक दृश्य से की जाती सकती है जो बिमल रॉय के निर्देशन में फिलमबद्ध हुआ

था। **मधुमती** का दृश्य। इसमें भी प्रेमी याने दिलीपकुमार अपनी प्रेमिका वैजयंतीमाला से मिलने आता है। क़रीब-क़रीब बदहवासी में, क्योंकि व प्रेमिका का विछोह बर्दाश्त नहीं कर सकता। दोनों ही फिल्मों में बरसात आवश्यक तनाव और ऊँचे ड्रामे का माहौल बुनती है। पर तुलना यही ख़त्म भी हो जाती है। अशोक कुमार ऐसे तनहा इंसान का आभास देते हैं, जो सिर्फ मिलने की आतुरता से प्रेमिका के पास दौड़ नहीं आया है। बल्कि उसे दोनों के बीच एक घर, एक घरौंदे की तलाश भी है, जिससे उसका क्रांतिकारी जीवन उसे महरुम रखे हुए है। नूतन उसके लिए महज़ प्रेमिका नहीं, बल्कि साथ-साथ बसने का प्रतीक है— एक टिकाव जो पत्नी, माता और प्रेमिका की उष्मा का प्रतीक है। और जैसा कि इस तरह की नाजुक, अशोक-परिस्थितियों में अक्सर होता है, अशोक सजग है कि कुछ व्यवहारिक कदम भी उठाना है, जिससे प्रेमिका का, एक औरत का समान बरकरार रखा जा सके। **मधुमती** में दिलीपकुमार खो चुका है, अपने को और संसार को भूल चुका है। वह इस सृष्टि का अनादि प्रेमी है, बहदवास, दीवानगी के सन्निपात में डूबा हुआ। ऑफ-कोर्स, यहाँ बहुत मुमकिन है कि समान परिस्थिति में चरित्र-चित्रण के ये बारीक़ रंग निर्देशक की अपनी थीम संबंधी ज़रुरतें और अवधारणाएँ हों। किन्तु अभिनेता की चरित्रगत निजी विशेषता भी सीन को गढ़ने या इन्टरप्रेट करने में निर्देशक के लिये संलग्न शर्त बन जाती है। मसलन बदल दीजिये दोनों अभिनेताओं को और दृश्यों के लहज़ों में ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ आ जाता है, दृश्य के डिटैल्स, संवाद और फिजाँ वही हो तो भी। यहाँ बिमल राय ने, निर्देशक की सटीक सूझबूझ से, दृश्यों के सही-सही इंसान चुने है। तो मायावी हिन्दी सिनेमा के 50 वर्षों में अशोक जैसे अभिनेता की प्रतिभा और अबाध टिकाव को देखते हुए यह कोशिश करना भी दुस्साहस होगा कि भारतीय सिनेमा के इतिहास में उसके योगदान की कालीन का माप क्या है? सन् 30-40 की बोझिल और साँचाबंद फिल्मों जैसे **अछूतकन्या, किस्मत** से लेकन सन् 50 की यथार्थवादी फिल्मों जैसे **एक ही रास्ता** और **परिणीता** आदि, जटिल चरित्र-चित्रण की **कानून** से लेकर सन् 60-70 की पिता-दादा वाली फिल्मों, तथा हास्य भूमिकाओं की **विक्टोरिया नं. 203, खट्टा-मीठा** और **शौकीन** से लेकर खलनायक भूमिकाओं की **उस्तादों से उस्ताद** और **ज्वेलथीफ** —में अशोक कुमार ने मील के पत्थर खड़े किये है। उन्होंने अकेले अपने बूते साबित किये है कि एक्टर को किसी एक्टिंग स्कूल से जुड़ने की ज़रुरत नहीं है। बस कैमरे के साथ सीधे व्यवहार करना यही भूमिका को गहराने सँवारने का सफल सूत्र है। उन्होंने पारसी स्कूल की नाटकीयता और साँचेबंदी को तोड़ा और दिखाया कि स्वाभाविकता की नकल नहीं की जा सकती। अशोक कुमार की प्रकृत शैली का प्रभाव परोक्ष रुप से चरित्र अभिनेताओं पर भी पड़ा जो कई बार केन्द्रीय पात्रों से ज़्यादा प्रभावशाली और प्रमाणिक होते है, जैसे सन् 50 के दिनों की फिल्मों में। नया सिनेमा जो यथार्थवाद को अपनी वंदनीय आधारशिला मानता है, अभी तक अशोक से ज़्यादा लचीला और प्रवहमान् अभिनेता नहीं खोज पाया। वासु चटर्जी की **खट्टा मीठा** इसका पर्याप्त उदाहरण है। पर

जैसा मैं देखती हूँ, अशोक कुमार का मूलभूत योगदान यह है कि वे कभी अभिनेता के बतौर फिल्मों को आच्छादित नहीं करते, बल्कि सहयोगी अभिनेताओं के साथ पृष्ठभूमि में घुल जाते हैं। कहीं भी वे आत्मसम्मोहित अभिनेताओं की तरह माणक-खंभ नहीं बनते, जिसके आसपास अन्य किरदार उनको भाव देने के लिये चक्कर लगाते हैं, बल्कि वे फिल्म की *आर्गेनिक यूनिटी* के साथ शाखा-वृक्ष न्याय से संयुक्त होते है। उन्हें गौण भूमिकाएँ स्वीकारने से भी एतराज नहीं है, जैसे **धर्मपुत्र** और **उस्तादों के उस्ताद** में क्योंकि वे जानते है कि छोटे से छोटा रोल भी सामान्य इंसान की तरह अपने डिटेल्स लिये हुए होता है और उन बारीकियों पर काम किया जाये तो वहीं रोल मुख्य पात्रों के बीच भी अपना असर क़ायम कर जाता है। आपने गौर किया होगा, उनके क्लोजअप कम होते हैं। यही कारण है कि किसी फिल्म में वे छोटे हों या बड़े हों, पृष्ठभूमि का मज़बूत स्तंभ हो जाते हैं और फिल्म की बागडोर उनके हाथ में आ जाती है। इसका नतीज़ा यह होता है कि फिल्म उनसे बड़ी हो जाती है और वे फिल्म से बड़े हो जाते हैं। आपको पता नहीं चलता कब यह जादू घट गया और यह जादू घट जाता है—चूँकि यह धीरे धीरे आपकी नाक के नीचे नदी के प्रवाह सा घटता है, जो अंत में विशाल मुहाना बन जाता है।

☐ चरणजीत कौर सिंह
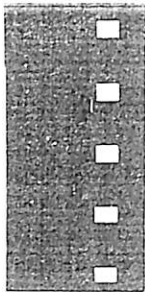
भारत में फिल्म-समीक्षा और अशोक कुमार

सुप्रसिद्ध फिल्म निर्माता बी.आर. चोपड़ा ने एक बार कहा था कि हमारे यहाँ फिल्मों की समीक्षा उपन्यासों की समीक्षा की तरह की जाती है, जबकि फिल्म एक अलग माध्यम है। वहाँ कैमरा इफेक्ट के लिए काम करता है, इसलिए एक दृश्य का जैसा वर्णन किताब में हो सकता है और उसी दृश्य का जैसा फिल्मीकरण सिनेमा में हो सकता है, इसमें फ़र्क़ है। उन्होंने बताया था, कि समीक्षा लिखने वाला कहीं से अपनी बात कह सकता है। पर फिल्म में हर कदम पर कैमरा खास जगह होता है, और उससे सीन के इस या उस पहलू पर खास स्ट्रेस पड़ता है। दूसरे शब्दों में, हम सिनेमावाले इफेक्ट के अलावा कोई भाषा नहीं बोल सकते, जबकि अखबार का फिल्मी समीक्षक सभी नज़रिए से हमारी फिल्म देखना चाहता है। उसे दरअसल यह दिखाना चाहिये—अभिनय, पात्र, चरित्र-चित्रण और थीम पर कमेंट करने के साथ-साथ—कि कौन सा दृश्य किस ढंग से बेहतर शूट किया जा सकता था, या कौन-सा दृश्य फिल्मांकन की दृष्टि से बेहतर चित्रबद्ध हुआ है।

बी.आर. चोपड़ा ठीक कहते हैं। हमारे यहाँ समूची फिल्म समीक्षा वर्णनात्मक है। उसमें कहानी की फूहड़ता को लताड़ दिया जाता है, या अंत में नैतिकतावादी टिप्पणी कर दी जाती है। पर यह किताबी और सामाजिक समीक्षा अधिक है, तकनीकी कम। हमने **टाइम्स ऑफ इंडिया** के स्तंभकारों तक में नहीं पढ़ा कि किसी फिल्म में अभिनय की बारीक़ी, या अतिरिक्त कैमरा भाषा कहाँ है? **आवारा** के एक दृश्य में जहाँ जग्गा नन्हें राजकपूर से पहली बार मिलता है, बालक राजकपूर को अँधेरे में खड़ा बताया गया है। शाम का समय है, और लेम्पपोस्टों के स्विच ऑन करने का वक़्त है। उस समय शायद स्विच लेम्पपोस्ट में लगे रहते होंगे। इस डिटेल का फिल्म से कोई संबंध नहीं है। पर जग्गा जब भूख और रोटी पर जोरदार भाषण देकर बच्चे को अपराधी बनने की सीख दे रहा है, तो पृष्ठभूमि में एक आदमी आता है और बाँस को कैंची से लेम्पपोस्ट का स्विच ऑन करके चला जाता है। इससे प्रकाश बालक राज के चेहरे पर आ जाता है। इशारा है बालक को ज्ञान की रोशनी मिली। पर यह व्यंग्य है। क्योंकि जग्गा बदमाश है और उसकी दी रोशनी कोई रोशनी नही है। अब सोचने की बात है कि सीन में उस आदमी को आने की ज़रुरत नहीं थी। शूटिंग में ऐसे ही लोग नहीं घुस जाया करते। उसे निर्देशक ने सोचकर वहाँ रखा होगा। पर राजकपूर की इस दृश्य संयोजना और सजेस्टीविटी पर किसी फिल्म समीक्षक की टिप्पणी नहीं आयी महान राजकपूर के साथ यह अन्याय था।

फिल्म समीक्षा में इन बारीकियों को दिखाना ज़रुरी होता है। इससे दर्शक का फिल्मबोध तैयार होता है और आगे चलकर इसका दूर-दराज़ नतीज़ा फिल्म निर्माताओं में स्तरीय फिल्में बनाने की विवशता को जन्म दे सकता है। कई बार घटिया से घटिया फिल्मों में डायरेक्टर अच्छा सा स्पर्श दे जाता है। आदर्श लोक की एक फिल्म **पुतलीबाई** में रोटी पर खून गिरता है। वह आगे चलकर पुतलीबाई के डाकू बनने के कारण को सघन और प्रामाणिक रंग देता है। **दीदार** में अंधा दिलीपकुमार अशोक कुमार के सामने गा रहा है। दीवाल पर प्रकाश लहराता दिखाया जाता है, जैसे हिलते हुए पानी से टकराकर किरणें दीवार पर वापस आ रही हैं। पर इस डिटेल पर हमारा ध्यान नहीं जाता। क्यों? जबकि *मेन एक्शन* के पीछे यह लघु स्पर्श पात्र के अँधेपन को गहराई से रेखांकित कर रहा है। हमारी फिल्म समीक्षाएँ ऐसी खूबसूरतियाँ मिस कर जाती है।

फिल्मी समीक्षा का एक यही काम नहीं है। अभिनय की दृष्टि से भी बहुत सी बारीक़ियाँ परदे पर आती है। और अभिनेता की प्रतिभा का पता चलता है। पर क्योंकि यह कमाल कोई अभिनेता लगातार अढ़ाई घंटे नहीं दिखाता, इन छोटे-छोटे स्पर्शों पर समीक्षकों की नज़र नहीं जाती। इस तरह का अकेला काम पहले कभी अरविंद कुमार ने किया था, पर वह अंदाज़ उनसे शुरु होकर उन्हीं पर ख़त्म हो गया। **परवाना** में अमिताभ बच्चन ने एक दृश्य में बारीक़ टच दिया है। सिर्फ ओंठ काटना, और एक क्षण को चुप रहकर नवीन निश्चल से कह देना—"तुम्हारी बेगुनाही का सबूत उस आलमारी में है।" अमिताभ के फिल्मी जीवन का यह जीनियस-स्ट्रोक है। मगर **परवाना** की समीक्षा में इसका ज़िक्र नहीं हुआ। नाना पाटेकर इस देश का चुस्त और संवेदनशील अभिनेता है। वह कहीं-कहीं अमिताभ और नसीरुद्दीनशाह से ज़्यादा सूक्ष्म है। पर उसके अभिनय के घटकों का कोई विश्लेषण अखबार में नहीं है!

अशोक कुमार तो इन फिल्म समीक्षकों के भाषाई दारिद्रय और अकादेमिक पाखंड का खूब शिकार हुए हैं। उन्हें अच्छा या बहुत अच्छा कहकर काम चला लिया गया है। पर उनके अभिनय की विशेषताओं और बारीक़ियों की सोदाहरण चर्चा कहाँ है। थोड़ा बहुत न्याय एक लेख में किशोर वालिचा ने किया है। पर किशोर वालिचा पर अंगरेजी फिल्मों और अंगरेजी में लिखने के वैशिष्टय-बोध का प्रभाव कुछ इस तरह है कि वे सटीक शब्दावली तो बना ले जाते हैं, पर **देवदास** को धिक्कारते-धिक्कारते अशोक कुमार को भी सिर्फ़ शब्दों में निपटा देते हैं। उनका **दो भाई** और **बंदिश** का विश्लेषण विस्तारपूर्ण नहीं है। नतीज़ा यह है कि उनका अशोक संबंधी आलेख एक गद्यलेख मात्र है। उसमें उदाहरण होने चाहिए थे।

अशोक कुमार के अभिनय में कई विशेषताएँ है। वे अभिनय की विशेषताएँ नहीं, अशोक कुमार के अभिनय की विशेषताएँ है, क्योंकि कोई नहीं जानता कि अकेला अभिनय, बिना इस या उस अभिनेता के निजी रंग के, क्या है। लिहाज़ा अशोक का अभिनय देखते समय अशोक के रंग ढंग को देखना होगा। दूसरे अभिनेताओं

से तुलना करके यह भी देखना होगा कि कहाँ वे कम या ज़्यादा अशोक कुमार हैं और कहाँ वे अशोक कुमार भी नहीं रह जाते। बिना इस तुलनात्मक अध्ययन के स्वयं अशोक और दूसरे अभिनेताओं के साथ सच्चा इंसाफ़ नहीं किया जा सकता है। हमें बताना होगा कि **ये रास्ते हैं प्यार के** में अशोक कुमार और मोतीलाल वकील बने हैं। पर आश्चर्यजनक सहजता के बावजूद मोतीलाल अशोक कुमार पर हावी नहीं हो पाते, क्योंकि उनके पास अशोक की-सी तीखी भंगिमाओं और गतिशील चेहरे का अभाव है। आज तक यह फ़र्क़ ज़ाहिर नहीं किया गया कि अशोक से ज़्यादा सहज बताये जाते हुए भी मोतीलाल सदा चरित्र-अभिनेता या टिपिकल नायक (जैसे **पहली शादी, मिस्टर संपत** वगैरह में) हो रहे। वे कभी रोमांटिक नायक या विविध रंगों के किरदार नहीं लगे, जिसे अशोक कुमार बख़ूबी कवर करते हैं। अशोक कुमार ने परदे पर कई रूप धरे हैं, पर स्वयं रुप अभिनय नहीं होता। अभिनय होता है हर भूमिका में उसके जेस्चर्स और रिस्पांसेज तय करना। दिलीप इस मामले में अशोक से बहुत पीछे हैं, क्योंकि अशोक स्वयं पात्र के चरित्रगत मैनरिज्म और उसके निजी वैविध्य को ओढ़ लेते हैं, जबकि दिलीप के पात्र गहरे और गंभीर होते हुए भी एकांगी हैं और उन पर स्वयं दिलीप कुमार छाये हुए होते हैं। यानी अशोक और दिलीप की फिल्में देखकर उनका निजी चरित्र खड़ा किया जाये तो कहा जा सकता है कि दिलीप आत्ममोह छोड़ नहीं पाते, जबकि अशोक कुमार इस *नार्सिसिज़्म* से मुक्त हैं।

पर, जैसा कि होता है, अभिनेता रूप कितने भी धरे आख़िर होता तो वह एक, और अकेला, इंसान ही है इसलिए अपने व्यक्तित्व को सीमित *टिपिकेलिटी* और निजी मुद्राओं से वह भाग नहीं सकता। भगवान भी अभिनेता बन जाये तो यह सीमा उसमें रहेगी। अतः देखना होगा कि अशोक कुमार की सीमा और ताक़त उन्हीं की निजता में कहाँ है। याने हमें फिर से तुलना की अनिवार्यता में लौटना होगा। और वहाँ से अशोक के निजी अंदाज़ों का साधारणीकरण और साधनीकरण देखना होगा। अशोक की कुछ तकनीकी विशेषताएँ इस तरह हैं :

1. काल और *हरकत* में सटीक संतुलन।
2. संवाद में प्रच्छन्न संवेदनशीलता।
3. आवाज़ में आत्मीयता और कृत्रिमता का अभाव।
4. आँखों की चपलता और भौहों का प्रखर उपयोग।
5. कैमरे के सामने कैमरे को भूल जाना और अभिनय के बजाय व्यवहार करना।
6. और आत्मस्थिति।

इन्हीं घटकों के साथ हमें अशोक कुमार को उसकी फिल्मों में खोजना होगा, और इन्हीं घटकों को उनकी फिल्मों से वापस अशोक कुमार में खोजना होगा। यह सब लगन, अध्ययन और अख़बारों में स्पेस चाहता है और अगर हम या हमारी व्यवस्था इसे उपलब्ध नहीं कराते तो जैसा चल रहा है, वैसा ही चलता रहेगा।

लेख को ख़त्म करना है। पर एक दो बातें फिर भी रही जा रही हैं। उनमें से एक तो हिंदी और अंगरेजी के पूर्वग्रह से संबंधित है। आज भी अंगरेजी का ऐसा आतंक है कि हम असल फिल्म समीक्षा को वह फ़िलहाल स्तर का सीढ़ी पर चाहे जिस पायदान पर हो अंगरेजी में लिखी हुई और अंगरेजी अख़बारों में छपी हुई ही मानते है। हम यह भी मानते हैं कि अच्छी फिल्में सिर्फ़ विदेशों में बनती हैं और जब तक वहाँ के मानदंड से और सांस्कृतिक दृष्टि से भारत को लताड़कर, हम अकादेमिक और वैज्ञानिक होने का दंभ न करें, हम कहीं पिछड़े हुए हैं, और हमारी अच्छी फिल्में भी विदेशों की सड़ी-गली फिल्मों से लचर है। यही कारण है कि किशोर वालिया की अंगरेजी में लिखी **दि मूविंग इमेज** किताब की दुंदुभि बज

जाती है। और हिंदी में ही राजकपूर पर लिखी गयी दो उत्तम किताबों, श्रीराम ताम्रकर की **राजकपूर : एक अध्ययन** और जयप्रकाश चौकसे की **जननायक राजकपूर** को। पर्याप्त मानदान नहीं मिलता। हमारी समझ से ये दो किताबें राजकपूर पर अलग-अलग जितनी सुस्पष्ट सामग्री देती हैं, वालिचा की अकेली किताब एक अमूर्त विषय पर रस के अलावा कोई ठोस माल नहीं देती! शायद मूर्त के अमूर्तीकरण को ही हमने उच्च और गंभीर साहित्य मान लिया है, जबकि कहीं-कहीं सम्मात्रीय होने के साथ वह मात्र शाब्दिक बाज़ीगरी भी हो सकता है।

दूसरी बात, अशोक के अभिनय की फिल्म-समीक्षा को लेकर है। फिल्म फेअर अवार्ड से लेकर दादा साहब फालके अवार्ड और पद्मश्री तक अशोक जी को मिल चुकी है। पर असल पुरस्कार तो यही हो सकता है कि उनके अभिनय-इतिहास और अभिनय-कला का विश्लेषण परक, मूल्यांकन किया जाऐ। पीढ़ी को बताया जाऐ कि जिस अभिनेता को वे परदे पर देखते हैं, उसके अभिनय की बारीक़ियाँ क्या हैं, और इन बारीक़ियों को स्वयं अशोक कुमार को बताया जाए। आख़िर पैसे से कोई कलाकार संतुष्ट नहीं हो जाता हैं। क्योंकि वह अभिनय शून्य में नहीं, बल्कि समाज के बीच में करता है। इस नाते उस समाज से प्रशंसा या समीक्षा पाना भी उसका मानसिक भोजन बन जाता है। ऐसे ही आयोजन द्वारा हम आज और आने वाले कल की पीढ़ी को मूल्य बोध दे सकते हैं, जो अच्छी फिल्मों और बहस के अभाव में एक घटिया सांस्कृतिक शून्य में जी रही हैं, विकृत हो रही हैं। प्रोफेसर सुरेन्द्रकौर छाबरा ने सही कहा है "समाज और सिनेमा आज एक अंतहीन चक्र हैं, जिसमें दोनों एक दूसरे को प्रभावित कर रहे हैं। मगर ज़िम्मेदारी बुद्धिवादी अल्पसंख्यक ही ज़्यादा है, जो समाज की विकृति को छानकर संस्कृति के रुप में वापस उसी समाज को भेज देता है।" याने, अब हमें समाज ही नहीं फिल्म पर भी बहस करनी होगी, और अच्छी फिल्मों और अच्छे किरदारों को हाईलाइट करना होगा। यह कहने से काम नहीं चलेगा कि कोरी बहसें समाज को नहीं बदलतीं। इसके विरोध में एक मात्र, शाश्वत तर्क यही है कि इंसान और समाज कब पतित नहीं रहे। पर हमने ही अच्छा सोचने और अच्छा सराहने से नाता नहीं तोड़ा।

हम यह न भूलें बहसें सिर्फ़ निष्कर्षों तक नहीं जातीं, बल्कि हमारे अस्तित्व की अमूर्तता और प्रकाश को भी छूती हैं। यही व्यापक अर्थ में छोटे क़िस्म का आत्मज्ञान है, जो तमाम संस्कृतियों और धर्मों का मूल लक्ष्य रहा है। दादा मुनि की फिल्मों और दादा मुनि के व्यक्तित्व का हम पर यह अहसान है कि हम उनसे प्रेम, स्नेह, परोपकार और नेकी की प्रेरणा लेते हैं। **एक ही रास्ता** के नायक की तरह बनना चाहते हैं। दादा मुनि अब एक तरह से रिटायर हो चुके हैं। मगर उनका मुस्कराता चेहरा, आदर्शवादी फील और आशावाद का कभी न कँझानेवाला प्रकाश हमें सदा याद रहेगा।

☐ **महेश कौशिक/सुरेश लोहाना**

दादा मुनि से एक लम्बी बातचीत

कुछ ही क्षणों बाद, दादा मुनि से लिया गया, इंटरव्यू तो आप पढ़ेंगे ही। मुमकिन है, आप यह भी जानना चाहें कि उनके बारे में मेरा फर्स्ट हेंड *इम्प्रेशन* क्या रहा? फर्स्ट हेंड इसलिए कि बाद में तो मेरी अपेक्षाएँ, मेरा चश्मा, और मेरा मिजाज़ उस तात्कालिक प्रभाव को "दूषित" कर देता। देखिए, मैं उन प्रथम भाव-रेखाओं को निकटतम सटीकता के साथ व्यक्त करने की कोशिश करता हूँ।

"मेरे सामने एक आदमी बैठा था। हवा की तरह सजग, आत्मस्थ, और आसपास की चीज़ों के प्रति अनजाने संवेदनशील। अगर मैं बार-बार यह याद नहीं करता कि यह आदमी 250-300 फिल्मों में काम कर चुका है और हिंदी सिनेमा की अज़ीम हस्ती है, तो मैं उसे समझदार, इंटेलीजेंट बुजुर्ग ही समझता। यूँ वह संसार के बड़े-बड़े लोगों से मिल चुका है और उसके पास बंगला, कार, और भरपूर पैसा है; मगर पृष्ठभूमि में यह सब प्रभाव गायब था। और मेरे सामनें एक प्रेमल वर्तमान जीवंत था। जैसे वह सिर्फ़ मुझे जानता है। और मुझे ही तवज्जो देता है। उसमें शंका, झिझक, और बनावटीपन का नामोनिशान नहीं था। वह *डायरेक्ट पर्सेप्शन* में से बातें कर रहा था। उसकी सिगरेट की जलती आँख और उसकी नाक का अग्रभाग... दोनों ही... अभिभूत करते थे। हाँ, जो चीज इस शख़्स में तेजस्वी थी, वह थी उसकी आँखों की चमक—खासतौर पर जब वह गहरा उतरता। मैं अभी तक नहीं समझ पाया, उस शख़्स में कोई अंदरुनी *बैरियर* क्यों नहीं है? क्यों वह आश्वस्त और लापरवाह है? क्यों मुझे यह इतनी आत्मीयता से अपना अतीत बतला रहा है? दोस्तों, तीन सौ पेज लिखकर और उसके साथ घंटों बैठकर मैं अभी भी नहीं जानता कि वह कहाँ पर एक्टर है? कैसे एक्टिंग करता है? मेरे लिए वह अजूबा है, क्योंकि यह इंसान न परदे पर एक्टर है, और न जीवन में दिलीप कुमार की तरह इफेक्ट के लिए बात करता है। मगर सच्चाई तो यह है कि वह हिंदुस्तान का बहुत बड़ा एक्टर है। मैं आज तक उस रहस्य को नहीं जान सका, जो रहस्य नहीं है। और फिर भी है। दादा मुनि के लिए मेरे जेहन में तब भी अनायास एक-एक शब्द था, और अब भी विचारों के जंगल के बाद, एक ही शब्द है—"बौद्धिक संत, जेन-गुरु।" तो अब इंटरव्यू पढ़िए!

आपका असल नाम कुमुद लाल है। अशोक कुमार नाम कैसे पड़ा?

मेरा असल नाम अशोक कुमार ही है। मेरे नाना बहुत रईस थे। जब मैं माँ के पेट में आया, तभी उन्होंने यह नाम रख दिया था। मेरे जन्म के पहले लंदन से खिलौनों का बॉक्स बुलाया गया था। उसमें कपड़े वग़ैरह भी थे। किसी ने कहा

था कि लड़के की जगह लड़की हो गयी तो क्या होगा? सो नाना जी ने ऐसे कपड़ों का आर्डर दिया था, जो लड़के या लड़की के लिए समान हो। तो लंदन से जो बॉक्स भागलपुर आया था, उस पर "अशोक कुमार गांगुली" लिखा हुआ था। इस तरह मैं पैदा होने के पहले ही अशोक कुमार हो गया।

फिर "कुमुदलाल" नाम का खुलासा क्या है?

उसका भी एक किस्सा है। खंडवे में पिताजी ने डाक से एक मशीन बुलायी थी। पंचिंग मशीन, जो आजकल 20-30 रुपये में मिल जाती है और तब 150-200 रुपये में आयी थी। पिताजी का नाम कुंजीलाल था। सो पार्सल पर लिखा था—"के. गांगुली"। बाद में हम सब भाई उसके लिए झगड़ने लगे, तो पिता जी ने समझाया, देखो यह मशीन तुम सबकी है। किशोर का नाम "क" से है। अनूप का घरेलू नाम भी। मेरा नाम तब कुमुदलाल कर दिया गया। इसका मतलब यह हुआ कि "के. गांगुली" की पार्सल हम सबकी थी।

बचपन की याद कितने पीछे तक जाती है?

तीन-साढ़े तीन साल तक। मुझे याद है, तब मैं माँ-बाप का अकेला लड़का था। हरदा में रहता था। हमारे बंगले के पीछे बहुत बड़ा मैदान या खेत था। माँ को खाना बनाते नहीं आता था, सो पास के किसी गाँव से एक ब्राह्मण को बुलाया गया था।

हरदा से खंडवा कैसे आये?

शायद दादा माखनलाल चतुर्वेदी के कारण। हल्की सी याद है कि पिताजी हरदे में वकालत करते थे। और दादा माखनलाल पास के ही गाँव-मसनगाँव में शिक्षक थे। बाद में दादा का नाम हुआ। वे खंडवे में बस गये। तब काफ़ी बंगाली खंडवा में बस गए थे। साहित्य, कला और संस्कृति में भी इस शहर का नाम हो रहा था। "बाबा" (पिताजी) तब वहीं चले गये।

खंडवे की कौन-कौन सी बातें आपको याद हैं?

सबसे ज़्यादा धूनी वाले दादा का आश्रम। फिर गांजा गोदाम, डबल फाटक स्कूल, जसवाड़ी का एरोड्राम, अबना नदी, रेलवे ब्रिज के पार की मेहता स्कूल, जसवाड़ी और घर के पीछे एक संस्कृत पाठशाला, जहाँ सत्यनारायण का मंदिर था।

पिताजी की याद किस रूप में है?

पिताजी से लगाव बाद में पैदा हुआ, जब मैं जवान हो गया। पर मेरे बड़े होने के बाद उन्होंने कभी मेरे पसंद और चुनाव में दख़ल नहीं दिया। एक्टर बन गया, तो एक बार बोले—जीवन में जैसा चलता है, चलने देना बस कभी *एम्बीशन* (महत्वाकांक्षा) मत पालना। इससे तुम जल्द थक जाओगे। वे बहुत अच्छे ज्योतिषी थे। होरोस्कोप देखते थे। मुझसे बोले तुम्हें औरतों की दोस्ती बहुत नसीब होगी। पर लंबा अफेयर कभी नहीं चला पाओगे। तुम्हारी कुंडली में शुक्र प्रबल है, पर मंगल भी सामने बैठा है। बहुत बाद में ज्योतिष मैंने भी पढ़ा। संस्कृत का शिक्षक लगाया। खंडवे के घर में एक बंगाली किताब थी। न जाने कौन लाया था। उसे

ुलवाकर उसे पूरा पढ़ गया। 'लघु पाराशरी' और 'वृहत पाराशरी' भी बाँची। पिताजी
ी ख़ास याद मुझे इसलिए है कि वे बहुत हँसमुख थे। मेरा मुस्कराना और ठहाका
बेल्कुल उनके जैसा है। वे बहुत अच्छे कॉमेडियन थे। कोर्ट में जजों को हँसा
देया करते थे। बाद में मन हुआ था कि उनके बताये हुए केसों पर कोई किताब
लेखूं। पर काम बीच में ही रुक गया। एक घटना अभी तक याद है। उनके पास
हार्ती गुंडे का केस आया था। वह मूँछे ऐंठा करता था। यही आदत जज की
ी थी। बाबा ने अदालत में नक़ली गंभीरता से कहा—"मी लार्ड, यह आदमी
ूछे ऐंठा करता है। वैसे आदमी बुरा नहीं है।" जज साहब शरमा गए। फिर झेंप
छपाने को बोले "मूंछे ऐंठता है तो क्या हुआ? दैट्स नाट क्राइम" और उस आदमी
ो डाँटकर भगा दिया। बाहर आकर बाबा ने कहा—"अब तू भोपाल भाग जा।
धर मत दिखना। दरअसल कॉमेडी मेरे और किशोर के खून में है। पर किशोर
 बाबा की *विट* और *हरकतें* अधिक आई। मैं सिर्फ *विट* और कुछ हद तक *टांट*
ाले संवाद तक सीमित रह गया। किशोर के ही कहने पर मैंने **भाई-भाई** किया
ा, जिसमें विलेन बनना पड़ा। किशोर बोला था—"भैया, मुझे यह फ़िल्म मिल
ी है। आप साथ हो जाएंगे तो कैरियर को बूस्ट मिलेगा।" किशोर की कॉमेडी
र बाबा का प्रभाव है।

ापके माता-पिता आपकी फ़िल्में देखते थे?

ं। पर बाबा ने मेरी फ़िल्में ज़्यादा देखीं। यह अलग बात है कि खंडवे से बहुत
टीमेटली उन्होंने मुझे कुछ नहीं लिखा। हाँ, माँ ने जब खंडवे में **अछूत कन्या**
खी थी, तो रो पड़ीं, क्योंकि उसमें रेल्वे क्रॉसिंग गेट पर मेरी लड़ाई दिखाई गई
ी और रेलगाड़ी आ रही थी।

**या यह सच है कि आप अछूत कन्या के बाद भी फिल्म लाइन छोड़कर
ाना चाहते थे? आप बंबई में रुक कैसे गये?**

सल बात यह है कि मैं एक्टर बनना नहीं चाहता था। मगर पता नहीं हिमांशु
य ने मुझमें ऐसी क्या बात देख ली थी कि वे बोलते थे—अशोक, डोंट लीव
स लाइन। दो-चार फिल्में और कर लो। तुम्हारा *नेचुरल स्टाइल* चल गया, तो
यू विल राइज टू एमिनेंस।" बाद में मुझे लगा कि मरना-खपना ही जब इस
ाइन में है, तो क्यों न मैं अपने को *परफेक्ट* करना शुरु करूं। फिर मैंने इस
ोफेशन को सीरियसली लिया।

***ीरियसली लिया*—इसका क्या मतलब?**

रुककर) एक्टर तो सब होते हैं। बच्चों को स्कूल नहीं जाना होता है, तो वे एक
सा बहाना बनाते हैं। यह बहाना ही एक्टिंग है। पर सफल एक्टिंग करने का
तलब है कि आप ऐसा बहाना बना रहे हैं कि वह दूसरों से अलग लगे और
ामयाब हो जाऐ। मैंने सीखा कि "हाउ टू एक्ट" एक्टिंग नहीं है। एक्टिंग
—"व्हाट टू एक्ट"। सो, मैं मेहनत करता, और पता लगाता कि किसी सीन में
ुझे नया क्या करना है। दूसरे, मैं ड्रामा या थियेटर नहीं करना चाहता था। बढ़

चढ़कर बनना, दिखना मुझे शुरु से पसंद नहीं था। सो, मैंने पता लगाया कि अगर मैं "लाउड एक्टिंग" न करुँ, तो करने के लिए फिर क्या बचता है? तब मेरा ध्यान संवादों और उनके लहज़े की तरफ़ गया। मैंने महसूस किया कि चुप रहने और डायलागबाजी करने के बीच संवेदनशील ढंग से अपनी बात कह जाना ही एकमात्र ऐसा सार्वभौमिक मैथड है जिसमें दुनिया के तमाम लोग अपना सुख-दुख बयान करते हैं। सो मैंने *फीलिंग* और उसकी सादा, संवेदनशील बयानी को पर्फेक्ट किया। यही अब मेरा स्टाइल है। और यह चल गया।

यह किस दौर की बात है?

अछूत कन्या से लेकर **नया संसार** के बीच की। **नया संसार** तक मैं अपना ढाँचा तय कर चुका था। "महल" डॉयलाग-डिलेवरी के हिसाब से, और संवेदनशील अंडरप्लेइंग के हिसाब से मेरी पहली फिल्म थी, जिसके बाद मुझे अपने फंडामेंटल्स ढूँढने नहीं पड़े। **गुमराह** तक उन्हीं को निखारता-सँवारता रहा।

आपके हिसाब से आप एकदम *सम* पर किस फिल्म में आ गये थे?

दीदार में। एक बात और बता दूँ। संवेदनशील अभिनय में अच्छे संवादों का बहुत हाथ होता है? उसमें निहित कविता या शायरी हमें इतनी अभिभूत कर देती है, कि संवेदना और सही एक्सप्रेशन चेहरे पर आ जाता है।

याने अभिनेता के लिए संवाद कमोवेश वही काम करते है, जो गायक के लिए गीत करते हैं?

एक्जेक्टली।

कई बार लगता है कि संवाद आपकी शख़्सियत में से आ रहे हैं और मुमकिन है कि वे पटकथा में न हों?

हाँ... हाँ... ऐसा भी होता है। इसके दो तीन कारण हैं। पहला यह कि संवाद-लेखक अपने मन में जैसा बोलता है, वैसा लिखता है। अब हम *एक्जेक्ट* वैसा तो नहीं बोल सकते। इसलिए अपने लहज़े के हिसाब से उसे ढालना पड़ता है। दूसरे, लिखते समय पटकथा—लेखक के मन में जो सीन होता है, ऐन वैसे ही डिटेल्स सैट पर नहीं होते। बीच में से टेबल हट जाये तो बहुत फ़र्क़ आ जाता है। फिर दो पात्रों के बीच की दूरी भी बोलते-वक़्त कम ज़्यादा हो जाती है, सो जुमले को अपने हिसाब से छाँट देना पड़ता है। तीसरे, एक्टर का भी एक मिजाज़ होता है जिसके हिसाब से वह सीन को इंटरप्रेट करता है। वह पात्र अथवा सिचुएशन की माँग को देखते हुए अपने *इन्ट्यूशन* से भी कोई डायलॉग जोड़ देता है। तुमने पूछा था कि *ऊँचे लोग* में क्या वह डायलॉग मेरा है जब मैं अपने लड़के के कातिल से पूछता हूँ—"मरते वक्त, रज्जो, को तकलीफ़ तो नहीं हुई? हाँ, वह डायलॉग पटकथा में नहीं था। मैंने उसे जोड़ा था। मेरा इंटरप्रेटेशन था कि मैं रजनीकांत का बाप बना हूँ और उसे बहुत चाहता हूँ। उसकी हत्या गोली मारकर की गयी थी। सो इतने दुलारे और फूल से बच्चे की याद करके, उस डायलॉग का आना ज़रुरी था। **गुमराह** में भी मैंने वैसा किया था—जैसे "बच्चों को यह बता देना ठीक

होगा कि उनकी माँ अब इस दुनिया में नहीं है। देर-अबेर उन्हें इस हकीकत का सामना करना पड़ेगा।" कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कोई संवाद पसंद नहीं आता, तो मैं डायरेक्टर से पूछ लेता हूँ कि अगले किसी सीन में थीम से इसका संबंध तो नहीं है। इसका भी ख़्याल रखना पड़ता है।

और आपके सिगरेट सुलगाने के सुप्रसिद्ध प्रसंग ?

खंडवे में प्रफुल्ल नागड़ा ने यही सवाल पूछा था। याद रखो, कैमरे के सामने मक्खी भी बेकार नहीं उड़ती! मैं ऐसे सीन बहुत रिहर्स करके जाता हूँ। घर पर हिसाब लगाता हूँ। कितने क़दम चलना है, डायलॉग के बीच कहाँ सिगरेट केस निकालना है, कहाँ पॉज देकर लाइटर से सिगरेट लगाना है, और कहाँ धुंआ छोड़कर वाक्य पूरा करना है। इस मामले में कभी-कभी डायरेक्टर बृज मजाक करते थे। वे सेट से पेपर वेट या कोई निशान हटवा देते थे। इससे मेरे केलकुलेशन को झटका लगता था, और मैं बिगड़ पड़ता था। फिर वे सब ठीक कर देते थे। कहने का मतलब यह कि ऐसे सीन में मैं एक-एक सेंटीमीटर का नाप जोख रखता हूँ। यह मेरा अपना स्टाइल है।

दादा मुनि, हम फिर वापस चलें! वतलाइए, **आपकी शादी कब हुई? तब कौन सी फिल्म आप कर रहे थे? शोभा जी याने आपकी पत्नी को आपने पहली बार कब देखा था?**

शोभा मुझसे दस साल छोटी थी। पहली बार उसे भागलपुर में देखा था। घर पास-पास थे। मामा ले गये थे। तब वह फ्रॉक पहनती थी। मैंने देखा, एक लड़की रोटियाँ बेल रही है। क़रीब 40-50 उसके सामने थी। मैंने मामा से पूछा—यह क्या? वे बोले, अरे भाई, आज मेहमान आने वाले हैं। बड़ी सीधी सादी, कामकाज़ी लड़की है। मैं इस घटना को भूल गया। जब मेरी शादी की बात चली, तो मैं **वचन** कर रहा था। या शायद रिलीज होने वाली थी। ख़ैर, यह सन् 38 की बात है। शोभा को माँ देख चुकी थी। सो मैंने भी उसे देखकर हाँ बोल दिया। मामा बोले पहचाना? मैंने कहा—"नहीं।" वे बोले—यह वही लड़की है, जिसे तुमने रोटी बेलते देखा था। यह अजीब बात थी कि उसके पिता, मिस्टर बनर्जी कैप्टन थे। पर शोभा पढ़ लिख नहीं पायी थी। वे लोग धनबाद के रहने वाले थे। बाद में भागलपुर आ गये। (हँसते हुए) हमारे श्वसुर साहब ने शराब के नशे में एक आदमी को शूट भी कर दिया था। नौकरी चली गयी। पर वे जेल जाने से बच गये। खैर! शोभा को मैं बंबई ले आया। यहीं टीचर लगाकर उसे पढ़ाया-लिखाया।

अब जब वे इस दुनिया में नहीं हैं, तो उनकी कौन-सी बातें आपको, ज़्यादा याद आती हैं?

बहुत अच्छी *हाउस वाइफ* थी वह। मुझे बहुत प्यार करती थी। उसके लिए माता-पिता, बाल-बच्चे, नाते-रिश्तेदार, किसी की कीमत नहीं थी। बस जो कुछ था, मैं था। उसका पति, मैं, नहाने लिए नीचे उतरता, तो सीढ़ी से लेकर बाथरूम तक सबको भगा देती थी। बच्चे चीखते थे। पर किसी की नहीं सुनती थी। बेंगलौर में मैंने

बंगला बनवाया था। मुझे जाना होता तो एक दिन पहले खुद प्लेन से चली जाती थी और पूरा कमरा साफ़ करवा देती थी। तौलिया, दस्ती, रेज़र, कंघा तक... अपनी जगह मिलते थे। शूटिंग पर मैं मद्रास जाता, तो रेलगाड़ी में मेरे साथ जाती थी। ज़िद कर जाती थी—मैं भी चलूँगी। ''मैं भाड़े का बहाना करता था, तो भी नहीं मानती थी।

उनकी मौत कैसे हुई? इस पर आपकी ऐन प्रतिक्रिया क्या थी? आपने बताया कि वे आपको बहुत प्यार करती थीं। क्या, इसीलिए कोई अन्य औरत आपके जीवन में नहीं आई?

किडनी फेल हो जाने से उसकी मौत हुई। शुरू-शुरू में मैंने इलाज करके उसे ठीक कर दिया था। पर शायद उसे उसी बहाने जाना था, सो अस्पताल में भर्ती कराना पड़ा एक दिन अस्पताल से फोन आया। मैं घर पर ही था। बेटे ने ऊपर आकर बताया—''बाबा, मम्मी चली गई।'' एक क्षण को मेरे दिमाग में बिजली कौंधी और फिर सब कुछ शांत। नहीं, नहीं, मैं रोया-वोया नहीं। एक झटके में बाहर निकल गया। मैं जानता था, उसे जाना था। सब इसी तरह एक-एक करके चले गऐ। अर्सा हुआ, मैं हर चीज़ से डिटेच्ड हो चुका हूँ, क्योंकि हर चीज़ एक मोड़ के बाद ग़ायब हो जाती है। हाँ, मुझे इसके लिए अभ्यास करना पड़ा। क्योंकि स्वभाव से डिटैच्ड कोई होता नहीं। ख़ैर, जब शोभा का शव आया, तो मैंने देखा, उसकी आँखे थोड़ी खुली हुई थीं। मुझे लगा, उसकी कोई इच्छा रह गई है। फिर न जाने क्या हुआ, मैं उसके शव के पास बैठ गया और दस-पंद्रह बार उसका माथा चूम लिया उसकी आँखें बंद हो गयी। मगर तुम क्यों पूछ रहे हो यह सब? इंटरव्यू में यह सब तो नहीं पूछा जाता। ख़ैर, तुम इतनी गंभीरता से पूछ रहे हो तो, बताता हूँ, (फिर बेहद सादगी, अपनेपन और लापरवाही से भरे डिटेचमेंट के साथ) ऐसा तो नहीं है कि मैं जवान था, तो स्कैंडल से बच सका। जवानी में हर इंसान इधर-उधर होता है। पर मैं होरोस्कोप में विश्वास करता हूँ। जैसा पिताजी और ज्योतिषियों ने बतलाया था, वही हुआ। शुक्र एक खूबसूरत ग्रह है। इट रिप्रेजेंट्स, ब्यूटीफूल वीमन एंड ब्यूटीफूल लव-अफेयर्स। पर मंगल है मेरी कुंडली के साथ। इसलिए कोई संबंध अंत तक नहीं जा पाया। रोम में मरलिन मनरो ने मुझे अपने होटल के कमरे में बुलाया था मैं नहीं जा सका। वह निम्फो थी। मैं जानता था, कि चला गया, तो कुछ भी हो सकता है। हाँ, तुमने सही अंदाज़ लगाया, शोभा मुझे इतना चाहती थी कि मैं किसी के साथ अपने को बहुत बढ़ जाते नहीं देख सकता था। मंटो ने ठीक ही लिखा है।

आपके अभिनय पर बंगाली होने, ब्राह्मण होने और एक सशिक्षित, धार्मिक परिवार में पाले-पोसे जाने का क्या प्रभाव है? क्या आप मानते हैं कि 1915-20 के खंडवा जैसे कस्बे ने, आसपास की ग्राम्य-सादगी ने और मध्यवर्गीय हिंदू परिवार ने ही आपको अभिनय और संवाद-अदायगी में वह सहजता-सादगी बख्शी है, जो आपकी स्क्रीन-इमेज़ की मूलभूत पहचान है?

जब मैं आगे-पीछे विचार करता हूँ, तो ऐसा लगता भी है। कदाचित् मैं मुसलमान और युसूफ (दिलीप) ब्राह्मण होते... तो हमारी अदाकारी और मैनरिज़्म में फ़र्क़ आता। मैं सोचता हूँ, दिलीप कुमार में स्टेज या थियेटर का जो टच है, वह उस सभ्यता-संस्कृति के कारण भी है, जो बुलंदी और नाटकीयता को अपने में समेटे हुए है। राजा और बादशाह के फ़र्क़ जैसा है यह। मैं यह भी सोचता हूँ कि बंगाली बाबू की शालीनता और हिंदू ब्राह्मण की शुचिता का मुझ पर असर है। एक समय, जब मैं खंडवे में था, पूजा-पाठ करता था, उपवास रखता था, और (मज़ा लेते हुए) भोजन करते समय मौन रहता था। यह सब माँ का असर था। जब एक साल में दुबला हो गया, तो पिताजी ने माँ से झगड़ा किया और फिर से अंडा-मछली शुरू हुआ। रही बचपन के शहर और निमाड़ की बेतकल्लुफी की बात... सो आत्मीयता, सरलता, और घरेलूपन जैसी चीज़ें, जो मेरे अभिनय में दीखती हैं, काफ़ी हद तक, मेरे निजी स्वभाव के बावजूद मध्यप्रदेश के हिंदी बेल्ट का असर है।

[यह वार्तालाप हुआ था, 20 सितंबर, 1991 को। सुबह साढ़े दस बजे से डेढ़ बजे दोपहर तक। दूसरी बैठक हुई 25 सितंबर, याने पाँच दिन बाद, शाम 4 बजे और 6 बजे तक चलती रही। दादा मुनि ने दोनों इंटरव्यू अपनेपन के साथ, और समझदारी से दिए, खासकर, तब, जब उन्हें कन्विंस कराया गया कि लेखक फ़िल्म-पत्रकार नहीं, बल्कि एक प्रोफेसर और साहित्यकार है। लेखक का सोच था कि विस्तार से छोटी, छोटी और निजी बातें जाने बगैर जीवन और अभिनय को जोड़नेवाले पुल को नहीं समझा जा सकता था। एक निरर्थक, असंबद्ध डिटेल भी काम का हो सकता था...?]

इस *दादा मुनि* संबोधन का आधार क्या है? खासकर *मुनि* शब्द का?

बंगाल में बड़े भाई या उम्र में वरिष्ठ व्यक्ति को *दादा* कहा जाता है। हिंदी क्षेत्रों में यह सामान्य संबोधन है। फ़र्क़ बस यह है कि बंगाली में *मणि* शब्द जोड़ दिया जाता है, चूँकि *मणि* कीमती होती है। इस तरह शब्द बना, दादामणि, दीदीमणि वगैरह। मुझे यह संबोधन अपनी छोटी बहन से मिला, जो मुझसे पाँच साल छोटी थी। जॉय मुखर्जी की माँ। बंबई में मेरे बहनोई एस. मुखर्जी भी मुझे *दादामणि* बोलते रहे, क्योंकि मैं अपनी बहन से बड़ा था। उनकी वजह से फिर सभी मुझे *दादामुनि* कहने लगे।

कहा जाता है कि अस्थमा के कारण आपने संवाद बोलने की शैली को बदला?

अस्थमा खानदानी बीमारी मानी जाती है। पर मेरे साथ ऐसा कुछ नहीं है। हुआ यह था कि फिल्म **राखी** के क्लाइमेक्स मे मुझे मरना था। निर्देशक भीमसिंग बोले—"इफेक्ट के लिए मौत की घरघराहट (डेथ-रॉटल) चाहिए।" मुझसे वैसा बन नहीं रहा था। उन्होंने कहा—"20-25 गिलास फ्रिज का ठंडा पानी पी लो।" मैंने वैसा किया। मुझे बुखार आ गया। मद्रास में किसी तरह मैंने वह सीन किया, और सेट पर से ही अस्पताल पहुँचाया गया। ठीक तो ख़ैर मैं हो गया। पर न

घर वार वनाया। वुढ़ापे में माँ-बाप को खंडवे से बुला लिया। उनकी सेवा की। दोनों यहीं शांत हुए। अब मेरी कोई ख़्वाहिश नहीं है, जिसे पूरा करूँ।

जीवन में कोई रहस्यमय अनुभूति?

एक अजीब अनुभूति हुई थी। मैं उन दिनों सोच रहा था कि "हेली का कॉमेट" वैसे 75 साल वाद घूमकर वहीं आ जाता है। दुनिया में इतना परफेक्शन कैसे है? बहुत दिन तक मैं यूँ ही सोचता रहा। अचानक एक दिन शाम चार-साढ़े चार बजे जब मैं ऊपर वाले कमरे में बैठा था, अचानक ऐसा लगा, मैंने जीवन की गुत्थी सुलझा ली। सब कुछ एकदम साफ़ सुथरा, सिंपल। पर अगले ही क्षण में भूल गया। वह कौन सा विचार आया था? मैंने बहुत माथा पचाया। पर याद नहीं आया। डायरी में लिखता काटता रहा-गॉड इस फर्फेक्शन। नहीं, पर्फेक्शन इज गॉड। पर मैं आज तक नहीं जानता, कि इन सीधे सादे शब्दों का क्या मतलब है—"जो मैंने लिखा था। दूसरा अनुभव खंडवे के दिनों का है। दादा धूनीवाले ने इंदौर की रानी शर्मिष्ठादेवी को डंडे से मार दिया था। सो उन्हें वहाँ से हटा दिया गया था। और वे मोरटक्का आ गऐ थे। वहाँ वे नर्मदा नदी के पार तंबू डालकर रहते थे। मैं अपने दोस्तों—मंसूर अली, जो वाद में इंस्पेक्टर बना और एक चौधरी, सब मर गये बेचारे। मैं जिससे दोस्ती करता हूँ, सब मर जाते हैं—के साथ इंदौर जा रहा था। हमने सोचा, उस सनकी बाबा की करामात देखी जाये। सो हम मोरटक्का उतरे और नाव से नर्मदा पार कर तंबू में पहुँचे। हम दादा के पीछे जाकर खड़े हो गए। तभी उनका कोई भक्त प्रसाद लाया। प्रसाद क्या, पूड़ी और सब्जी थी। अब बाबा ने पूड़ी हाथ में ली और लगे उस आदमी की नाक दबाने। हम तय करके चले थे कि बाबा ने हमें मारा, तो हम भी उसे पीट लेंगे। "विज्ञान के विद्यार्थी थे। धरम-वरम को पाखंड समझते थे। जब वह आदमी घबराकर गिर पड़ा तो दादा बोले"—बस? देख, मेरे पीछे तीन छोकरे खड़े है जो मुझे मारने आये हैं। यह सुनती ही हम भाग लिये। नाव में बैठे तो डर लगता था कि नाव उलट न जाए। पर हम तीन मित्रों के अलावा कोई न जानता था कि हम बाबा को पीटना चाहते थे। उन्हें कैसे पता चला? यह राज मैं आज तक नहीं जान सका।

इससे निष्कर्ष क्या निकाला आपने?

चलो, यही निकाल लेता कि भगवान है, तो भी क्या होता? कर्म तो मुझे करना था। और वही करना था, जो मेरे सामने थे। इसलिए मैंने अपवाद मानकर उस घटना को जल्द भुला दिया। और अपने काम में लग गया। मैंने कर्म को ही सदा व्यावहारिक भगवान माना, क्योंकि क़दम-क़दम पर यही सच था। ज़िंदगी में पैसा, शोहरत और संतोष भी तो उसी से मिला!

मगर रहस्य का प्रश्न इससे हल तो नहीं हो जाता?

इस मामले में मेरा खुलासा यह है कि परम दुःख या परम जिज्ञासा से आदमी ऐसी खोज के पीछे पड़ता है। पर दुःख मैंने भोगा नहीं, और जिज्ञासा... करने का मेरे पास वक़्त नहीं था।

क्या सोचते है, जब फिल्म कैरियर का 57 साल लंबा सफ़र

और आप, पत्नी भाई और मित्रों की मौत के बाद यहाँ अकेले बैठे है?

हद के बाद मैं नहीं सोच पाता। खो अपने को व्यस्त रखता हूँ। तु

री खुर्शीद ने बतलाया होगा कि मैं इतवार को सारे दिन क्रॉसवर्ड भरा करता

अपने बच्चों से भी नहीं मिलता।

गी को कैसे लेते हैं?

से "डिटेच्ड" हूँ। जिंदगी हर पल यही सिखाती है। सब कुछ ऐसा है, जैसे

सेट पर किसी खूबसूरत एक्ट्रेस को बाँहों में लेता हूँ... और डायरेक्टर ने

—कट। तो वो उधर मैं इधर। जैसे कुछ हुआ ही नहीं था। बस फ़र्क इतना

कि ज़िंदगी ज़रा देर से कट बोलती है। मगर बोलती ज़रूर है। और तब तक

इस सिनेमा से अटेच्ड हो चुके होते है। मैंने डिटेचिंग बहुत पहले सीख ली थी।

क्टंग के बारे में आपकी क्या राय है?

ह, इट्स ए फैसिनेटिंग आर्ट।

सिनेटिंग किस मायने में?

ब देखो। एक सीन को कितने एंगल से किया जा सकता है। अनंत तरीक़े हैं।

मैं एक्टिंग को एन्ज्वॉय करता हूँ। किसी भी सीन के पहले मेरे पास कुछ नहीं

ता। पर मैं ही उसमें रंग भरता हूँ— जाने कहाँ से यह सब मुझे सोचने, खोजने,

क्रियेट करने का मौक़ा देता है और यही मज़ा है।

आपसे कोई एक्टिंग सीखे तो क्या सीख सकता है?

हाँ, मेरे पास नवजवान आते हैं। मैं उन्हें अपनी तरफ़ से बहुत कुछ बतलाता हूँ।

कुल मिलाकर यह कोई फ़ार्मूला है। असली एक्टिंग मन से आती है। एक

ह्यूमर के सेन्स ऑफ बैलेंस से, इन्ट्यूशन से... कि कितना बोलना है, कितना पॉज़

ना है, कहाँ अचानक कोई ट्विस्ट देना है वगैरह-वगैरह।

जैसे गायन में होता है कि गायक कहां मुरकी ले और कितनी मुरकी ले?

हाँ। और यह भी कि ले या नहीं ले।

मेरे मुंह से 'वाह' निकल जाती है। और दादा मुनि तथा मैं एक साथ हँस पड़ते हैं। बड़ा प्रीतिकर और निस्संग क्षण है यह। जैसे कोई गुप्त समझौता हो गया हो, और उस समझौते की शक्ल न मालूम हो। मौक़ा जैसे मुझे यह बतलाता है कि यह अर्थहीन सार्थक गैप ही अभिनय कला का सबसे चरम क्षण है। ख़ैर! दादा मुनि कुछ देर के लिए ब्रेक कर देते हैं। हम चाय पीते हैं। इस इंसान की सरलता देखिए। वह खुद मेरी चाय में शक्कर मिलाता है और स्नेह से कप मुझे देता है। अहंकार इसे छू तक नहीं गया। वैसे, एक राजसी रोब भी है, इसमें, जैसे समूची ज़िंदगी पचाकर उसमें से कुछ मोती मुझे दे रहा हो। मुझे लगता है, जैसे मैं किसी बड़े जहाज़ में बैठा हूँ। पर इसका पायलट इतना अनुभवी, आत्म विश्वास से पूर्ण और निस्संग है कि मुझे बचाकर ले जायेगा। और पता भी नहीं चलने देगा कि

बीच में तूफ़ान कितना ज़ोरदार था। दादा मुनि मुझे एक विशाल माँ की तरह लगते हैं। ओर-छोर जानने वाली माँ की तरह, जो चुप ज़्यादा है, पर बीच-बीच में संतान के काम की बात बता देती है। मैं परेशान हूँ कि यह आदमी थकता क्यों नहीं? इसका मूड बदलता क्यों नहीं? इसमें उतना उत्साह और प्रफुल्लता कैसे है? दादा मुनि का यह विराट् प्रेम ही उन्हें और भी रहस्यमय बना देता है। वे पूछते हैं—क्या सोच रहे हो? मैं कहता हूँ—दादा मुनि, पिछले दिनों मैंने समीक्षा करने के लिए **अछूत कन्या** देखी थी। अब आपको देख रहा हूँ। कहाँ वह कोमल सा शर्मीला छोकरा और कहाँ अब वही आप, बूढ़े और गुरु गंभीर! लगता है, कहीं धोखा खा रहा हूँ। इसी तरह, कल ही **आशीर्वाद** देखी थी। आपके मृत्यु-दृश्य पर मैं और मेरा पत्रकार-मित्र सिसक पड़े थे। और आप हैं कि यहाँ खिलखिलाकर हँस रहे हैं। बड़ा अच्छा लगता है। बड़ा बुरा लगता है। मैं इसी में से एक प्रश्न बना लेता हूँ। उनसे पूछता हूँ।]

अपने मार्मिक दृश्यों को जब आप बतौर दर्शक देखते हैं, तो कैसा महसूस करते हैं?

भई, मुझे तो अक्सर यही याद आने लगता है कि शूटिंग कहां हुई थी। कैमरा कहाँ रखा था। मेरे साथ कौन-कौन थे। उस दिन सैट पर क्या-क्या हुआ था। वग़ैरह-वग़ैरह। पहले डबिंग सिस्टम नहीं था। सो सीन के साथ जो रेकार्ड हो जाता था वही फिल्म में चला जाता था। इसलिए अपनी बहुत सी पुरानी फिल्में तो मैंने देखी ही नहीं। पर, नहीं, कहीं-कहीं *मूव* भी होते हैं। इसी **आशीर्वाद** को लो। एक दृश्य में अपनी बेटी से मिलने जा रहा हूँ। गाड़ीवान मेरा ही लिखा गीता गाता है—''जीवन से लंबे हैं, बंधु, ये जीवन के रास्ते।'' सचमुच मेरी आँखें बहने लगी थी। (फिर खिलखिलाकर) ऋषिकेश मुखर्जी ने ऐसा ही बतलाया था।

आपका प्रिय पात्र कौन सा है?

कोई नहीं। सभी भूमिकाओं में मैंने जी तोड़ मेहनत की है। घटिया से घटिया फिल्मों में, जिनकी क़ामयाबी के बारे में मुझे शक था, पर जिन्हें मित्र-निर्माताओं के आग्रह पर करना पड़ा। मैंने अपने रोल पर बाक़ायदा होमवर्क किया और फिर सेट पर गया।

कोई ऐसी फिल्म जो फ्लाप गयी? पर आपने अभिनय अच्छा किया था।

हाँ, ऐसी एक फिल्म **दो भाई** थी। एक तरह से क्राइम फिल्म थी। मैं इसमें एक जज बना था, जो सचमुच भला है, पर उसे खून करना पड़ता है और इस खून की एक मात्र चश्मदीद गवाह, जो बाद में उसके छोटे भाई की पत्नी है, उसे दरिंदा मानती है। बड़ा पेचीदा रोल और पेचीदे हालात थे। उस जज की पत्नी को जज के ही अजीज़ और भरोसेमंद दोस्त ने रेप कर दिया था और पत्नी ने आत्महत्या कर ली थी। जज साहब की शादी के बारे में भी किसी को पता नहीं था।

यह रोल क्यों पसंद था आपको?

इसलिए कि उसने मुझे सोचने को मजबूर कर दिया था कि अगर मैं मजिस्ट्रेट होता, और मेरे साथ ऐसा हादसा गुज़रता, तो मैं क्या करता? एक बारगी मुझे लगा था

कानून *स्टीरियोटाइप* भर है। क्राइम के कारण उसके डर से बड़े है। मुझे उस पात्र से जाती हमदर्दी हो गयी थी। मैं दहल सा गया था।

आपके काम करने का तरीक़ा क्या है? मतलब, आप जब रोल को लेकर घर आते हैं, तो सबसे पहले अपने को क्या सोचता हुआ पाते हैं? नोट कीजिए, मैंने कहा, "क्या सोचता हुआ पाते हैं", यह नहीं कि आप क्या सोचते हैं?

मेरा ध्यान सबसे पहले पात्र की वेशभूषा की तरफ़ जाता है। वेशभूषा ही किसी इंसान का पहला *मैं* होता है। प्रक्टतः इसीलिए साधुओं को भगवा पहनने का ज़ोर दिया जाता है। सो ड्रेस मुझे आधा पात्र बना देती है। उसके बाद मैं सोचता हूँ, वह कौन है, क्या है, कहानी में उसकी हालत क्या है, दसरे पात्रों से उसका रिश्ता क्या है, दूसरे अभिनेता के साथ मेरी लाइनें क्या हैं और फ्रेम के भीतर मुझे कैसे रियेक्ट करना है। **ऊँचे लोग** का मेजर चंद्रकांत मिला, तो मैंने सबसे पहले उसके यूनीफॉर्म की तरफ़ ग़ौर किया। बाल छोटे करवाये। मिलिटरी अफसरों के साथ मैं रह चुका हूँ। इसलिए उनके तौर-तरीक़े याद किये। फिल्म में मैं अंधा भी हूँ। इसलिए मैं आँखों से काम नहीं ले सकता था। सो, डायरेक्टर से कहा, आँखों पर लाइटिंग मत देना। बस, जो कुछ करना था, मुझे संवादों के मार्फ़त ही करना था इसलिए मैंने डायलाग डिलेवरी पर ज़्यादा ध्यान दिया था। दुलीचंद (कन्हैयालाल) के साथ बात करने का लहज़ा और है, और अपने बेटों (राजकुमार, फिरोजखान) के साथ और।

पात्र को लेकर कोई *विजुवल* भी था। कंसेप्शन के साथ-साथ?

हाँ, हाँ, एक दो मेजर दोस्त याद थे। *नानसेंस* वाला तकिया कलाम एक दोस्त का ही था।

रिहर्सल के दौरान...... आपके क्रिटिक कौन होते हैं?

अक्सर मेरे नौकर। मैं उन्हें बुलाकर अपने संवाद, अभिनय के साथ सुनाता हूँ। और उनकी स्वाभाविक प्रतिक्रियाओं पर ग़ौर करता हूँ। कभी-कभी दो तीन तरीक़ों से सीन करके उनसे पूछता हूँ—कौन सा ठीक रहेगा। सेट पर भी शॉट के बाद लाइटमेन, स्पॉट ब्वाय, या किसी और से पूछ लेता हूँ—"कैसा रहा? ओ.के.? एक बार बीच शॉट में एक बच्चे ने हँस दिया। सब सन्न। डायरेक्टर झुंझला पड़ा। मगर मैंने बच्चे से जाकर पूछा—क्या बात थी? उसने कहा—आप ज़्यादा मुंह बना रहे थे। मैंने उसकी बात मानी। वही सेट पर सच्चा, नेचुरल क्रिटिक था। इसी तरह **मेहरबान** में मेरा एक सीन था। रईस से ग़रीब हुए शांति स्वरुप को बहू ताना देती है—"फ़िज़ूलखर्ची कम करने की नसीहत देते हैं, तो खुद सिगरेट क्यों धुनकते हैं? बीड़ी क्यों नहीं पीते।" मैं आहत होकर कचरेघर के पास जाता हूँ। और सारी सिगरेटें उँड़ेल देता हूँ। पर सीन की माँग थी कि आख़िरी सिगरेट-जो मेरे मुँह मे थी—मैं, लोभवश, खूब खींचकर पीता हूँ और फिर उसे भी फेंक देता हूँ। इस सीन की शूटिंग मद्रास में हुई थी। मई का महीना था। गर्मी से जान निकली जा रही थी। मुझे लगा, सीन ठीक नहीं हुआ। सो मैं रिटेक चाहता था। फिर बिना रिहर्सल के यह सीन कैमरे के सामने गया था। भीमसिंह कहने लगे—"सुलोचना को जाना है।

बहुत गर्मी है। इसे ऐस ही रहने दीजिए। मैं भीमसिंह पर बिगड़ पड़ा—व्हॉट नानसेंस, अब मैं तुम्हारे साथ कोई फिल्म नहीं करुँगा। मैं गुस्से से घर आ गया। बाद में मेरी बच्ची प्रीति ने उस सीन को देखा। वह छोटी थी। कहने लगी—"पापा" उस सीन को देखकर मैं रोने लगी। कितना अच्छा किया है आपने।" तो ऐसा ही होता है।

याने................

याने, फिल्म-कैरियर में याद रखो, तुम्हारे सच्चे समीक्षक बच्चे, नौकर चाकर, और आम आदमी होते है। वे, किताबी क्रिटिक, नहीं होते, पर नेचुरल इंसटिंक्ट से एकदम सही प्रतिक्रिया करते हैं।

आपके स्वाभाविक अभिनय का राज क्या है?

(बहुत सोचने के बाद) शायद मेरा यह स्वभाव, यह दृष्टिकोण, कि बड़ा छोटा कोई नहीं है। सब इत्तेफ़ाक की बात है। इसलिए सबको बराबर समझो। सबको प्यार करो। आई लव लाइफ। इट इज सो ब्यूटीफुल थिंग। मैं साधु संत नहीं हूँ। पर सादगी और सहजता को बहुत प्यार करता हूँ। शायद यही कारण होगा।

दादा मुनि, आपके अभिनय की बारीक़ियों को देखकर मेरे मन में एक अजीबो-ग़रीब किरदार खड़ा होता है, जिसे मैं चाहता हूँ, आप कभी करते?

बोलो।

फ़र्ज़ कीजिए आपको हत्यारे रामनराघव का किरदार निभाना हो तो....?

(चौंककर) हाँ, हाँ, एक बार उस पर मेरा ध्यान गया था। वाक़ई वह एक केस होता। इस पात्र में सबसे बड़ी बात मेरी समझ से होती—कुलनेस और आँखों का ग्लिन्ट। (अर्थात् बाहरी ठंडापन और आँखों में खूनी चमक)। **मगर करेक्टराइजेशन...**

हाँ, करेक्टराइजेशन की ही बात है। **क्या आपको ऐसा नहीं लगता है कि भारत की हज़ारों फिल्मों में इने गिने-चरित्र ही हमें याद आते है? *साहब बीबी गुलाम* की छोटी बहू *मदर इंडिया* की बूढ़ी माँ, बंदिनी की कल्याणी, *खामोशी* की "नर्स, *ऊँचे लोग* का मेजर चंद्रकांत और *देवदास* का नायक वग़ैरह। अर्थात् जिसे हम विश्व अभिनेता कहते हैं। वह बहुत कुछ इस या उस राष्ट्र की चीज़ नहीं है, बल्कि निर्भर करता है कि उसकी फिल्मों में करेक्टराइजेशन कितना सुस्पष्ट और सुगठित है। इस दृष्टि से मुझे लगता है कि आपके एक्टिंग-पोटेंशियल का पूरा इस्तेमाल... इस देश में....**

हो सकता है। लेकिन मुझे यह भी लगता है कि उपन्यास की तरह हम सिनेमा में बहुत बारीक़ियों में नहीं जा सकते। यह वर्णन की नहीं, दृश्य की विधा है। हमें इने-गिने जेक्चर्स से ही काम चलाना है।

अंतिम प्रश्न। फ़र्ज़ कीजिए, आप फिल्म-समीक्षक हैं, तो अपने साप्ताहिक स्तंभ में फिल्म के किन पहलुओं पर ध्यान खींचना चाहेंगे?

यह लिख देने से तो काम नहीं चलेगा कि फिल्म बहुत अच्छी है। या लचर है या इसका अभिनय ठीक है और उसका नहीं। सिनेमा सबसे पहले कैमरा वर्क, पटकथा और एक्टिंग है। इसलिए कैमरे ने कौन सी बारीक़ियाँ बतलाई हैं, मैं इसे हाईलाइट

करता। फिल्म के जिन सीनों में एक्टर या एक्ट्रेस ने अनोखा टच दिया है, उसका ज़िक्र करता। मैं यह भी बताता कि फिल्म के बोर होने या रोचक होने का क्या कारण है, उसकी स्क्रिप्टिंग और एडीटिंग कैसी है। दरअसल समीक्षा डायरेक्टर के नज़रिए से होनी चाहिए, जबकि आज सब कुछ सपाट होता है, जैसे हमारा समीक्षक मुकम्मल फिल्म के बारे में कम, उसकी थीम के बारे में ज़्यादा लिख रहा है।

[इसके बाद वे **ऊँचे लोग** के उसी मेजर चंद्रकांत के लहजे में कहते हैं—पीछे देखो। "मैं उनके पीछे देखता हूँ। वहाँ दीवाल घड़ी है। वे सामने ही देख रहे हैं। मैं कहता हूँ—छह बज गए। वे मुस्कराते हैं। मैं समझ जाता हूँ। वे न जाने क्या सोचते हैं। वाचमैन को बुलाकर कहते हैं—देखो, अब ये कभी आयें, तो भीतर छोड़ देना। एप्वाइंटमेंट-वेप्वाइटमेंट की ज़रुरत नहीं है।" वे उठते हैं, जसवाड़ी के किसी *दरबार* की तरह और बेचैन होने लगते हैं, जैसे किसी रहस्यमय ऋषि के *ध्यान* करने का वक़्त हो गया और अब वह तमाम संसारी जीवों से छूटकर अपनी कुटिया में लौटना चाहता है। वे राजसी गरिमा से सिगरेट पी रहे हैं। पर मुझे लगता है, यह शख़्स सब कुछ समझकर केवल वक्त पास कर रहा है और ज़माने के मायावी स्वभाव पर हँस रहा है। उनके चलने, बोलने ताकने में एक ब्रहमर्षि की तटस्थता नज़र आती है। यह उनके नहाने का वक़्त है। नौकर तौलिया वग़ैरह लाकर रखने लगता है मुझे शोभा जी की याद आने लगती है, जो यह सब करती थीं। पर दादा मुनि तो निस्संग है। मेरी आँखें भर आती है। वे पूछते हैं क्या बात है? मैं कहता हूँ—दीवाली की छुट्टी में हरदा जा रहा हूँ। खंडवे से आपके लिए क्या ले लाऊँ। वे कुछ देर सोचते हैं। फिर कहते हैं—एक दर्जन मगद के लड्डू ले आना। उन्हीं काठियावाड़ी हलवाइयों की दुकान से जो घंटा घर के आस पास है। है न? मैं सिर्फ़ गर्दन हिलाता हूँ। चल पड़ता हूँ।

खंडवा? हाँ, खंडवे से लगाव है दादा मुनि को। बहुत छिप छिपकर सही, इस शहर की गलियाँ, चौबारे और बचपन के दोस्तों की याद करके... अपनी निस्संगता का आसन थोड़ा सा छोड़ देते हैं। वे **आशीर्वाद** में "खंडवा मांडवा" बोल ही जाते हैं। किसी "पापा गौली का जिक्र करते है। किसी रिटायर्ड टीचर का नाम लो, तो झपटकर पूछ पड़ते हैं—क्या नाम है उसका? बड़े गांगुली साहब का निधन होने लगा, तो उन्होंने कहा—खंडवे का मकान तुम लोगों के नाम कर देता हूँ। अशोक बोले—"मेरे पास आपके आशीर्वाद से सब कुछ है।" किशोर अड़ गये। बोले—"नहीं आपकी जायदाद से मुझे वह मकान ज़रूर चाहिये।" खंडवे से लगाव था किशोर को। कहने लगे —बड़े भैया, उसमें एक कमरा आपका रहेगा। वही, जिसमें आप पढ़ते थे। फिर वह मकान अनूप कुमार को दे दिया।.... दादा मुनि सब बता गये थे। बच्चे की तरह। बैरागी की तरह। और एक विराट् इंसान की तरह...जिसे इस बात की चिंता ज़्यादा थी कि मैं उनकी गरिमा और रोब से सहमूँ नहीं, इसलिए वे लागातार मुस्करा रहे थे, स्वयं टेप लगा रहे थे, और मेरे चुप हो
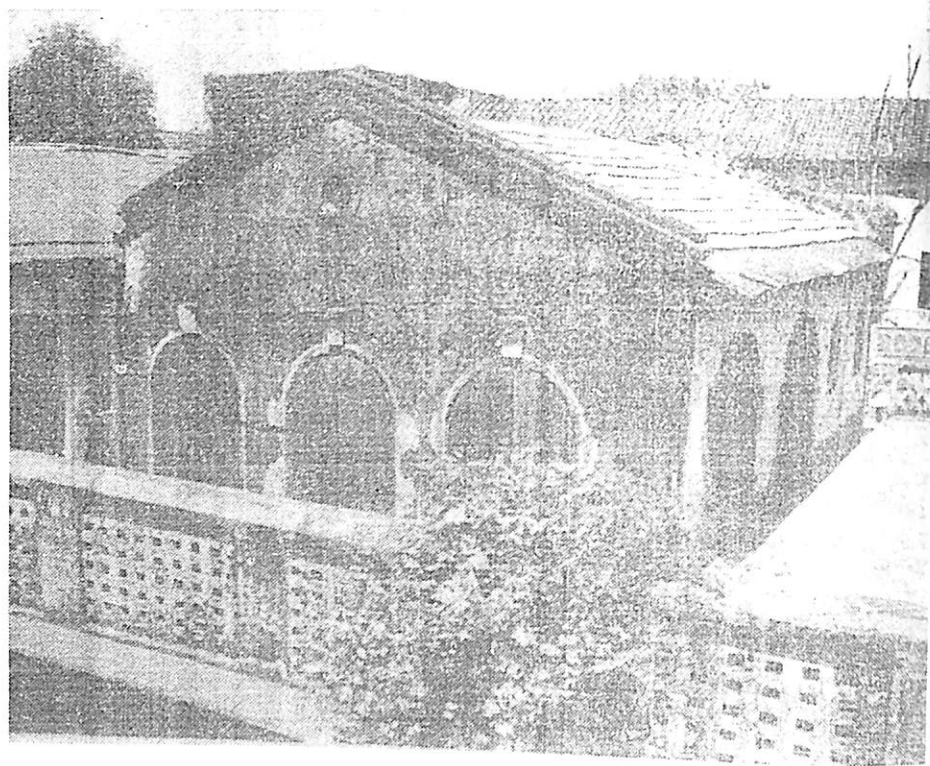
जाने पर स्वयं ही *लिंक* बनाकर बोलने लगते थे। उन्हें अपने *ग्राहक* के इंसान की चिंता ज़्यादा थी। बिना बताए वे उसे अधिक से अधिक संतुष्ट करना चाहते थे। ''तुम दुबले हो। दुबारा आना। कोई अच्छी सी दवा दूँगा। प्रफुल्ल नागड़ा की तस्वीरें रख ली थीं। जिसमें पैतृक मकान के फोटो थे कितना अच्छा संयोग है कि यह किताब उस मकान से ज़ूम-बैक हुई थी। और उसी मकान के *क्लोज़-अप* पर ख़त्म हो रही है... एक है बांबे बाज़ार मार्ग। उसके सामने, टेसन से थोड़ी दूर पर, अधिवक्ता स्वर्गीय कुंजीलाल गांगुली का मकान है। कह दूँ। उसका एक कमरा है *जिसमें* बालक अशोक पढ़ रहा है, जो अब अस्सी से ज़्यादा का है। और उत्साह के साथ अकेला जीवन जीता है। अलविदा।]
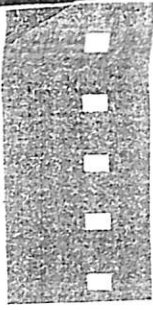
फ़िल्मोग्राफी :
अभिनेता अशोककुमार की :

"अपडेट वीडियो पब्लिकेशन्स प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली" ने अपनी इण्डियन फिल्म एण्ड वीडियो गाइड में अशोककुमार की फिल्मों की जो सूची छापी है वह इस तरह है—

फिल्म का नाम	वर्ष	फिल्म का नाम	वर्ष	फिल्म का नाम	वर्ष
1. जीवन नैया	1936	28. पद्मिनी	1948	55. नाज	195
2. जन्मभूमि	1936	29. महल	1949	56. समाज	195
3. अछूत कन्या	1936	30. आधीरात	1950	57. बंदिश	195
4. इज्जत	1937	31. खिलाड़ी	1950	58. सरदार	195
5. प्रेम कहानी	1937	32. मशाल	1950	59. बंदी	195
6. सावित्री	1937	33. निशाना	1950	60. जलदीप	195
7. वचन	1938	34. समाधि	1950	61. भाई-भाई	195
8. निर्मला	1938	35. संग्राम	1950	62. एक ही रास्ता	195
9. विक्रम	1938	36. अफ़साना	1951	63. इंस्पेक्टर	195
10. कंगन	1939	37. दीदार	1951	64 शतरंज	195
11. आज़ाद	1940	38. बहुरूपिया	1952	65. एक साल	195
12. बन्धन	1940	39. बेताब	1952	66. मिस्टर एक्स	195
13. झूला	1941	40. बेवफा	1952	67. जीवन साथी	195
14. अन्जाम	1941	41. जलपरी	1952	68. शेरू	19
15. नया संसार	1941	42. नाव	1952	69. तलाश	195
16. बसंत	1942	43. नवबहार	1952	70. उस्ताद	195
17. अंगूठी	1943	44. पूनम	1952	71. चलती का नाम गाड़ी	195
18. क़िस्मत	1943	45. राग रंग	1952	72. फरिश्ता	195
19. नज़मा	1943	46. सलोनी	1952	73. सितारों से आगे	195
20. चल चल रे नौजवान	1944	47. तमाशा	1952	74. हावड़ा ब्रिज	195
21. किरन	1944	48. नगमा	1953	75. काफिला	195
22. बेगम	1945	49. शोले	1953	76. कारीगर	195
23. हुमायू	1945	50. परिणीता	1953	77. लाइट हाउस	195
24. आठ दिन	1946	51. शमशीर	1953	78. नाइट क्लब	195
25. शिकारी	1946	52. बादबान	1954	79. रागिनी	195
26. साजन	1947	53. बन्धन	1954	80. सवेरा	19
27. चन्द्रशेखर	1948	54. लकीरें	1954		

नीचे रिकॉर्ड के [illegible] का अभिनेता अशोककुमार के गानों और उनकी फिल्मों सूची दे रहे हैं। यह सूची हमें हरमंदिर सिंह ''हमराज'' के फिल्म गीत कोश और सुमन चौरसिया (इंदौर) की रिकार्ड लाइब्रेरी से प्राप्त हुई। गीत कोश को उपलब्ध कराया प्रीतम मेघाणी (उल्हासनगर) ने, जो स्वयं स्वर्गीय मुहम्मद रफी के गीतों का शब्द कोष तैयार कर रहे हैं।

अशोक कुमार द्वारा गाये गीत :

1. जीवन नैया, संगीतकार—सरस्वती देवी, सन् 1936

   1. [illegible] हो, हो राह में काँटे बिछे हुए—अशोककुमार
   2. कोई हमदम न रहा, कोई सहारा न रहा।

नोट : [illegible] शब्दकोष में गायक और गायिका [illegible]

2. जन्मभूमि, संगीतकार—सरस्वतीदेवी, सन् 1936

   1. [illegible] हम निद्रा से जागे—अशोककुमार व साथी
   2. सेवा के हम व्रतधारी, सेवा से नहीं हटेंगे —अशोक कुमार
   3. मेरे दिल की दुनिया उजड़ गई समझे थे दिलकी लगी हुई —अशोककुमार

नोट : बाकी के गीत देविकारानी के गाये हुए और कुछेक के गायक-गायिका के नाम अनुल्लेखित।

3. इज्जत, संगीतकार—सरस्वतीदेवी, सन् 1937

   1. मतवाले नैनों वाली,
      घुँघराले बालों वाली पतली कमरिया —अशोककुमार, देविकारानी
   2. भरने दो मोहे नीर, हट छोड़ डगर, मोरी ढीठ लंगर —अशोककुमार, देविकारानी

4. प्रेम कहानी, संगीतकार—सरस्वतीदेवी, सन् 1937

   1. आया ख्याले यार में जलवा जमाले यार का —अशोककुमार

5. सावित्री, संगीतकार—सरस्वतीदेवी, सन् 1937

   1. यों सुनो गीत संगीत मनोहर लाँखा, कमी एक सुरीली तानबान की —अशोककुमार
   2. जल भरन आई गुजरिया, काहे की तोरी डोरी गुजरी काहे को गागरिया—अशोककुमार
   3. सूर्य वही चन्द्र वही, वही जग है, वही जीवन —अशोककुमार

6. निर्मला, संगीतकार—सरस्वतीदेवी, सन् 1938

   1. चलता रहे सागर भी, भरता रहे पैमाना —अशोककुमार
   2. बोलो सजनी बोलो, चन्दा को देख क्यू कुमुदकली —अशोककुमार व देविकारानी
   3. तुम और मैं और मुन्ना प्यारा,
      घरवा बनेगा स्वर्ग हमारा —अशोककुमार व देविकारानी

7. वचन, संगीतकार—सरस्वतीदेवी, सन् 1938

   1. बैसाख, जेठ, फागुन व चैत व माघ होते हैं ब्याह —अशोककुमार
   2. हृदय है कहीं और जान है कहीं —अशोककुमार

3. फूलो तुम आज खुशी से फूलो —अशोककुमार

8. **कंगन, संगीतकार—सरस्वतीदेवी व रामचन्द्र पाल,** सन् 1939

1. राधा प्यारी, राधा प्यारी प्रेम अगाधा —अशोककुमार व लीला चीटनीस
2. क्यों बजे हृदय के वीणा के तार —अशोककुमार व लीला चीटनीस

9. **बंधन, संगीतकार—सरस्वतीदेवी व रामचन्द्र पाल,** सन् 1939

1. चल-चल रे नौजवान —अशोककुमार

इस गीत के लेखक स्वयं अशोककुमार थे। फिल्म में इसे इन्होंने लीला चीटनीस के साथ, फिर सुरेश के साथ और साथियों के साथ गाया था।

10. **अंजान, संगीत—पन्नालाल घोष, सन्** 1941

1. खींचो कमान ओ खींचो कमान —अशोक, सुरेश, रेखा
2. प्यारे-प्यारे हमारे सपने, जनम, जनम तक संग रहें —अशोक, सुरेश, रेखा
3. प्यारे-प्यारे सपने हमारे —अशोककुमार
4. मेरे जीवन के पथ पर ये छाई कौन —अशोककुमार व देविकारानी

11. **फिल्म—झूला, संगीत—सरस्वतीदेवी, सन्** 1941

1. न जाने किधर आज मेरी नाव चली रे —अशोककुमार
2. आज मौसम सलोना सलोना रे —अशोककुमार
3. देखो कह दूँगी तुम्हारे मन की बतियाँ —अशोककुमार व लीला चीटनीस
4. मुझे मत भूलना मेरे चितचोर —अशोककुमार व लीला चीटनीस
5. हमने किसी से सुनी कहानी एक सफ़र में ये ज़िन्दगी —अशोककुमार
6. एक बात बताओ गोरी हमें किसने सिखलाई तुम्हें चोरी —अशोक व लीला

12. **फिल्म—नया संसार, संगीत—सरस्वतीदेवी, सन्** 1941

1. मेरा मन खो गया है कहाँ ढूँढू कहाँ पूछूँ —अशोककुमार
2. एक नया संसार बसा लें, एक नया संसार —अशोककुमार व रेणुकादेवी
3. कब तक बोलो छुपी रहोगी ओ मेरी जीवन आशा —अशोक व रेणुकादेवी

13. **फिल्म—नजमा, संगीत—रफी गजनवी, सन्** 1943

1. तरसी हुई है मुहब्बत से आँखें —अशोककुमार
2. भला क्यों हो, मगर क्यों कहोगे ऐसी बात —अशोक व पारुल घोष
3. नज़र कुछ आज ऐसा आ रहा है —अशोक, मुमताज व शान्ति
4. जल जा जल जा पतंगे जनमते-जनमते —अशोक व सितारादेवी
5. क्या मुहब्बत का यही अंजाम है —अशोककुमार
6. आ जा आ जा दिल को नहीं है करार —अशोक व सितारादेवी
7. वो हमको खिलाते हैं पानी में मिर्चें —अशोककुमार

14. फिल्म—चल-चल रे नौजवान, संगीतकार—गुलाम हैदर, सन् 1944

1. एक नया गीत सुनो सजनिया —अशोक व नसीम
2. मौज़ करने के लिये है दुनिया —अशोक व साथी
3. चमको चमको बिजलिया —अशोक व नसीम
4. बोलो हरहर महादेव, अल्लाह हो अकबर —अशोक व साथी

15. फिल्म—शिकारी, संगीतकार—एस.डी. बर्मन, सन् 1946

1. जगमग है आसमान, डगमग हैं मेरे प्राण —अशोक व पारो
2. हर दिन है नया, हर रात निराली है —अशोक व अमीरबाई कर्नाटकी
3. जगमग है आसमान डोल रही है नैया—अशोक

बस यहीं तक याने सन् 1946 तक अशोककुमार अपने गीतों के साथ मिलते हैं। फिल्म 'साजन' में मोहम्मद रफ़ी ने उन्हें पहली बार अपनी आवाज़ उधार दी। 'तुम हमारे हो न हो, हमको तुम्हारा आसरा।'

युक्तिका :

फिल्मोग्रेफी में छूटी हुई फिल्में (श्री प्रीतम मेंघाणी, उल्हासनगर द्वारा योग)

पद्मिनी (1948), खिलाड़ी (1950) मिस्टर एक्स (1957), कारीगर (1958), हॉस्पिटल (1960), धर्मपुत्र (1961), मेंहदी लगी मेरे हाथ (1962), दिल और मोहब्बत (1968), आराधना (1969), माँ और ममता (1970), धुँध (1973), प्रेम नगर (1974), छोटी-सी बात (1975), रंगीला रतन (1976), दो फूल (1978), अपना खून (1978) जुदाई (1980) टक्कर (1980), महफ़िल (1981), हीरों का चोर (1982), महान् (1983), अम्मा (1986), जीत (1987), हिफ़ाज़त (1987), वो दिन आयेगा (1988), क्लर्क (1989), ममता की छाँव (1990).

अशोक कुमार द्वारा निर्मित फिल्में :

1. आठ दिन, 2. महल, 3. मजबूर, 4. जिद्दी, 5. समाज 6. परिणीता, 7. कल्पना, 8. रागिनी।

अधूरी व अप्रदर्शित फिल्में :

1. हल्दी घाटी (अधूरी), 2. चोर मंडली (अप्रदर्शित), 3. श्री हेडेड फोबरा

पुरस्कार :

1959 : संगीत नाटक अकादेमी,

1962 : फिल्म फेअर अवार्ड (सर्वोत्तम अभिनेता : फिल्म राखी)

1969 : फिल्म फेअर अवार्ड (सर्वोत्तम अभिनेता : फिल्म आशीर्वाद),

1988 : **दादा साहब फालके अवार्ड,** तथा

1966 : **फिल्म फेंअर अवार्ड** (सर्वोत्तम सहायक अभिनेता : फिल्म अफसाना)
तथा **पद्मश्री।**

अंतर्राष्ट्रीय फिल्म उत्सव-1990 और अशोक कुमार :

सन् 1990 में फिल्म उत्सव के सचिवालय द्वारा पश्चिम बंगाल सरकार और भारतीय फिल्म उद्योग के सहयोग से आयोजित 21 वे अतर्राष्ट्रीय फिल्म उत्सव के **भारतीय पेनोरमा** खंड में अभिनेता अशोक कुमार की 15 फिल्मों का "पुनरवलोकन" प्रस्तुत किया गया। इसका शुभारंभ प्रसिद्ध गायिका और अभिनेत्री कानन देवी ने किया। इस अवसर पर सुप्रसिद्ध निर्देशक ऋषिकेश मुखर्जी ने कहा—"दादा मुनि को मैं अपने पितातुल्य मानता हूँ। मैंने उनसे फिल्म संपादन और निर्देशन में बहुत कुछ सीखा है। अगर वे अभिनेता नहीं होते, तो कुशल निर्देशक होते।" "नई दुनिया" इंदौर (मध्यप्रदेश) ने अपने विशेष लेख में टिप्पणी की—दादा मुनि को अपने अभिनय के हर रुप में भारतीय रस सिद्धांत के साधारणीकरण में सफलता मिली है। इस दृष्टि से उनकी गणना सर अलेक गुइननेस, सर रॉल्फ रिचर्डसन, पीटर सैलर्स तथा डेविड अब्राह्म आदि विश्व के शीर्षस्थ अभिनेताओं में की जाती है।"

पेनोरामा में प्रदर्शित फिल्में अशोक कुमार द्वारा अभिनीत

1. **जीवन नैया,** 2. **अछूत कन्या** (चंद रीलें), 3. **बंधन,** 4. **क़िस्मत,** 5. **हुमायूँ,** 6. **अफसाना** 7. **महल,** 8. **समाधि,** 9. **परिणीता,** 10. **बंदिश,** 11. **हॉस्पिटल,** 12. **कानून,** 13. **हाट बाज़ारे** (बंगाली) 14. **आशीर्वाद** (बंगाली) और 15. **छोटी सी बात।**

दादा साहब फालके पुरस्कार-वितरण-समारोह में उद्‌बोधन

"अभिनय में चरित्र को व्यक्तित्व के प्रदूषण से बचना चाहिए।

- अशोक कुमार